CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अप्रैल - जून, १९९८

रंगायन

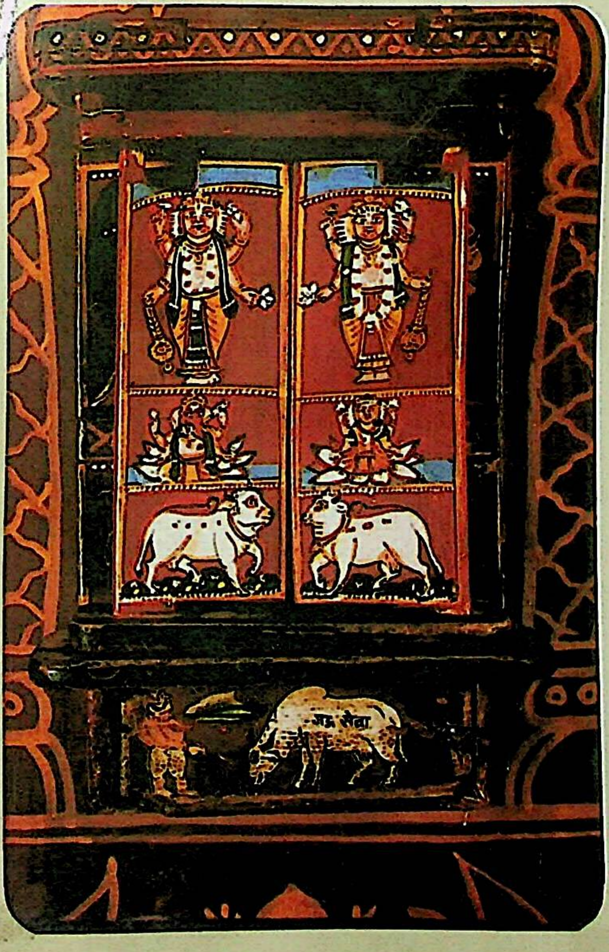

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

8-4

रंगायन

वर्ष : ३१
अंक : २
अप्रैल - जून

सम्पादक : पीयूष दईया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रंगायन
(भारतीय लोक कला मण्डल का मुखपत्र)
सम्पादक : पीयूष दईया

मूल्य :
वार्षिक : ८० रुपये मात्र
एक प्रति : २० रुपये मात्र

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार :
पीयूष दईया
भारतीय लोक कला मण्डल
उदयपुर (राज.) ३१३००१
दूरभाष : ५२८३१६

प्रकाशक :
रियाज़ तहसीन
मानद सचिव, भारतीय लोक कला मण्डल
उदयपुर ३१३००१ (भारत)
दूरभाष (०२९४) ५२५०७७, ४२६२६६

चौधरी ऑफसेट प्रा. लि.
११-१२ गुरु रामदास कॉलोनी, उदयपुर (राज.) ३१३००१
फोन : ५८४०७१, ४८५७८४

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुक्रम

बहस :

नंद भारद्वाज

लोक सम्पदा वनाम नयी सर्जना ५

साक्षात्कार :

त्रिलोचन से रमेश दत्त दुबे

लोक का मतलव १०

आलेख :

शंपा शाह

"उज्जवल नीलमणि" २१

प्रेमशंकर

भक्तिकाव्य : एक दृष्टि २६

फोकस : लोक गीत

राजस्थानी प्रेम - सूक्तियां ३०

- भाषान्तर : चन्द्रप्रकाश देवल

पांच राजस्थानी लोक गीत ३६

- भाषान्तर : डॉ. हेतु भारद्वाज

उडीसा के पन्द्रह लोक गीत ४०

-अनुवादिका : चंन्द्रप्रभा पांडेय

अमृत और विष में बुझी हुई ४७
(प्रेम कविता के कुछ अंश)

-संस्कृत से अनुवाद : राधावल्लभ त्रिपाठी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असम के विहु लोक गीत ५०

-अनुवादक : राजेन्द्र उपाध्याय

केरलीय ईसाई स्त्रियों के लोकगीत ५४

-अनुवादिका : डॉ. रति सक्सेना

रेड इंडियन क़वीलों के लोक गीत ५७

-अंग्रेज़ी से अनुवाद : सुरेश सलिल

तीन बाउल गान ६२

-भाषान्तर : डॉ. हरिशचन्द्र मिश्र

लल्लेश्वरी के दस "वाख" ६४

-कश्मीरी से अनुवाद : पृथ्वीनाथ मधुप

कोरकू जनजाति के मृत्यु गीत ६८

-डॉ. महेशचन्द्र शांडिल्य

समीक्षा - लोक :

अरविन्द त्रिपाठी

सिर्फ़ "देह" और "गेह" के कवि नहीं ७२

रिपोर्ट ७६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नंद भारद्वाज

लोक सम्पदा बनाम नयी सर्जना

लोक-सम्पदा की मिल्कियत का मसला उठाते हुए अपने विश्लेषण के अंत में मैंने एक विडम्वना की ओर संकेत किया था कि "विजय दान देथा के साहित्य कर्म का जो पक्ष सर्वाधिक उज्ज्वल, सार्थक और महत्वपूर्ण है, वह स्वयं लेखक और उनके प्रशंसकों की दृष्टि में सर्वथा गौण और महत्वहीन होता गया है, तथापि जो अवांतर प्रसंग और प्रचार उनसे जुड़ गया है, उसी की वार-वार पुनरावृत्ति- जिस प्रयत्न में स्वयं लेखक भी शामिल है- उन्हें एक ऐसी अंधी गली की ओर वहाये ले जा रहा है, जहां सिवाय विवाद और प्रायोजित प्रशंसा के वे शायद ही कुछ हासिल कर पाएं"। "रंगायन' के ताजा अंक (जनवरी-मार्च 1998) में छपा उन्हीं के परिजन अर्जुनदेव चारण का बहस आलेख "सृजन की सर्जना" प्रकारान्तर से मेरी इसी आशंका की पुष्टि करता है। मेरे विश्लेषण में दोहरी मानसिकता और अनैतिक कर्म का आशय ढूंढने वाले इस आलेख की मूल आपत्तियों का निराकरण करने से पहले आलेख की अपनी असंगतियों और अमूर्त टिप्पणियों पर गौर करना आवश्यक है। आलेख के आरंभ में "लोक रचना" की प्रकृति और उसके स्वरूप की अधूरी-सी व्याख्या करते हुए वे दो एक सवाल उठाते हैं और उन्हें त्रिशंकू अवस्था में छोड़ कर आगे वढ़ जाते हैं। लिखते हैं, "जव किसी लोक-रचना को कोई रचानाकार अपनी सर्जना का हिस्सा वनाता है, तव क्या वह रचना वहीं रहती है? लोक रचना तो समष्टि की सम्पत्ति होती है किन्तु जब वह व्यष्टि के अधिकार क्षेत्र में आती है तव वह खोजवीन रोचक हो सकती है कि उस समष्टि का हिस्सा कितना क्या है और वह हिस्सा सहज है या आरोपित।" सवाल यह है कि कोई रचनाकार "लोक रचना" को अपनी सर्जना का हिस्सा वनाता है, या उस लोक रचना की ही पुनर्रचना अथवा पुनर्लेखन करता है, इसमें वुनियादी अंतर आप देख पा रहें हैं या नहीं? कोई भी रचनाकार पुनर्रचना या पुनर्लेखन करते हुए अपनी स्मृति, कल्पना और भाषा शैली पर ही अधिक भरोसा कर सकता है और तभी उसका लिखा जाना सार्थक हो पाता है। इसमें लोक रचना को "अपनी रचना" वनाने की गुंजाइश कहां है? या ऐसे दावे करना कहां तक उचित है जिसकी मूल उद्भावना और संरचना से उस लेखक का कोई सम्वंध ही न रहा हो?

लोक साहित्य को समूह की अभिव्यक्ति माने जाने पर अपनी अवोध प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए वे पूछते हैं "क्या उसे हजार-पांच सौ लोग इकट्ठा होकर लिखते हैं?" और फिर स्वयं ही उसका उत्तर खोजते हुए इस निष्कर्ष पर जा पहुंचते हैं कि "जो रचना युगों युगों तक असंख्य पीढ़ियों का सत्य वन कर जीवित रहती है और जिसे अपने होने को प्रमाणित करने के लिए किसी लिपिवद्ध स्वरूप की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह तो समाज के कंठ में निवास करती है। यह कंठ में निवास करना आसान नहीं है, उसके लिए उस रचना से कठोर अनुशासन की अपेक्षा की जाती है। यह अनुशासन उसे वांधता नहीं वरन मुक्त करता है, वह किसी भी पूर्व निर्धारित स्वरूप से मुक्त हो जाती है।" कहना न होगा कि इस अंतिम उक्ति तक आते-आते अर्जुनदेव एक तरह के विरोधाभास में उलझ गये हैं क्योंकि "कठोर अनुशासन और "मुक्त स्वरूप" अपने आप में दो विरोधी स्थितियां हैं। फिर अपने निष्कर्ष की पुष्टि हेतु उन्होंने कन्हैया लाल सेठिया और रेवतदान चारण की जिन दो काव्य रचनाओं को हवाले में लिया है वहां वे यह वात भूल गये हैं कि लोक साहित्य की वाचिक परम्परा में कविता और कथा के संरक्षण और लोकानुरंजन की प्रक्रिया एक जैसी नहीं होती। कविता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक निश्चित भाषिक संरचना में बंधी होने के कारण कालांतर में हजारों कंठों तक पहुंच कर भी अपने मूल स्वरूप से ज़्यादा भिन्न नहीं होती, जबकि कथा के साथ ऐसी भाषिक संरचना का आग्रह नहीं रहता - कथा कहने वाला हर बातपोश अपने कौशल से बात को रोचक बनाकर कहता है और वह यह मान कर चलता है कि वह समाज में प्रचलित "बात" को ही दुहरा रहा है, उस पर "अपनी बात" का दावा वह कभी नहीं करता। इस प्रक्रिया में कठोर अनुशासन की नहीं बल्कि अपने कौशल को संवारने की आवश्कता बराबर बनी रहती है और यही लोक साहित्य (खास कर लोक कथा) के संरक्षण और लोकानुरंजन का सही तरीका भी रहा है।

मैं यह तो नहीं कहता कि अर्जुनदेव लोक रचना और पौराणिक मिथकों में फर्क करना नहीं जानते, लेकिन इस आलेख में अपने प्रायोजित कथाकार के समर्थन में तर्क-वितर्क जुटाते हुए वे यह फर्क करना भूल अवश्य गये हैं। यही कारण है कि उन्हें कालिदास, तुलसीदास, शिवाजी सावंत, भगवान सिंह और "विजयदान देथा" के रचना कर्म (खासतौर से कथा लेखन) में कोई बुनियादी अंतर नज़र नहीं आता। इस मामले में वे काव्य कथा और नाट्य रचना के पारस्परिक अंतर को भी गौण मान बैठे हैं। यहां तक कि उन्हें नारायण सिंह भाटी की कविता "मीरां' एवं 'दुर्गादास" सत्य प्रकाश जोशी की "बोल भारमली" और विजयदान देथा की "बातां री फुलवाड़ी" की सभी कथाएं समान रूप से मौलिक लगती हैं। असल में यह इतना बड़ा दावा है कि इसे सही साबित करने के लिए न केवल रचनाशीलता के मानदण्ड फिर से तैयार करने होंगे बल्कि इसके लिए पर्याप्त समय, संयम और वस्तुनिष्ठता (ओब्जेक्टिविटी) की आवश्यकता पड़ेगी (जो इधर काफी कम हो गई है) फिर भी संभव है कि यह बहस बकाया ही रह जाये। मेरी अर्जुनदेव से एक ही जिज्ञासा है कि राजस्थानी में ऐसी बहुत-सी लोक कथाएं हैं, जिन्हें विजयदान देथा की तरह रानी लक्ष्मी कुमारी चुंडावत, गोविन्द अग्रवाल, भवानी शंकर उपाध्याय, मनोहर शर्मा, कन्हैया लाल सहल आदि अनेक लोक कथाविदों ने लिखा है, और वे प्रकाशित भी हो गई है, और सभी ने इन कथाओं को अपने-अपने कौशल से लिखा है, मिलान करके देखेंगे तो उनमें पर्याप्त अन्तर भी पाया जायेगा, ऐसे में "चौबोली", "खांतीलो चोर" "दुविधा "सोदड बीझा री बात" "मूमल" या "लेठवा ऊज की" आदि पर कॉपीराइट किसका माना जाए, क्योंकि मौलिकता का यह दावा आखिर टूटता तो इसी बात पर आ कर है। बाकी तो विद्वानों के बीच की बारीक बहस है, जिसे जो जितना चाहे, लम्बा खींचता रहे।

अपने लेख के उत्तरार्द्ध में अर्जुनदेव ने रूपायन संस्थान, को जिस परियोजना के तहत मिलने वाली सरकारी सहायता के औचित्य में लेखक के मौलिक सृजन को लोक कथा कह कर छापने की मजबूरी का जो तर्क दिया है वह अपने आप में बहुत कमजोर और बचाव की भाषा वाला तर्क है। यह तर्क तो कभी स्वयं लेखक या संस्थान के संचालकों ने भी नहीं दिया, बल्कि "बातां री फुलवाड़ी" के नौ खंड़ों तक तो बराबर उन बात पोशों के हवाले भी प्रकाशित किये गये, जिनके माध्यम से इन कथाओं को संकलित करने का श्रमसाध्य काम संभव हो पाया था।

विजयदान देथा के लेखन कर्म पर मेरे विश्लेषण को यदि अर्जुनदेव थोड़ा पूर्वाग्रह को छोड़कर ईमानदारी से हवाले में रख पाते तो उन्हें उन सभी सवालों और जिज्ञासाओं के उत्तर वहीं मिल जाते, जिन्हें अनुत्तरित ही छोड़ दिया गया है। राजस्थानी कथा लेखन के क्षेत्र में बिज्जी के महत्व को रेखांकित करने के लिए मेरे उक्त लेख के प्रकाशन के तीन वर्ष बाद 1991 में प्रकाशित राजस्थानी कहानियों के संकलन "उकरात" की भूमिका से जो उद्धरण छांटने पड़े वही हवाले उन्हें मेरे इसी लेख में ज्यादा विस्तार से हासिल हो सकते थे, लेकिन ऐसा करते तो उन्हें मेरे विश्लेषण को इक तरफा साबित करने का मौका कैसे मिलता?

राजस्थानी कथा लेखन के संदर्भ में विजय दान देथा के पुनर्मूल्यांकन के इस अतिरिक्त आग्रह के बावजूद लोक कथाओं के संकलन और इस लोक सम्पदा के संरक्षण को लेकर राजस्थानी लोक जीवन और संस्कृति में रुचि रखने वाले लोगों की अपनी चिन्ताएं रही हैं, मुझे भी यह सोच और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्कार उन्हीं से विरासत में मिला है और मेरी यह समझ है कि विजयदान देथा ने अड़तीस वरस पहले (सन् 1960) में ''रूपायन'' संस्थान के माध्यम से राजस्थान की कदीमी लोक कथाओं को लिखावट में ढाल कर संग्रहीत करने का जो वीड़ा उठाया था, वह तव भी महत्वपूर्ण था और आज भी, जवकि इस श्रृंखला में ''वातां री फुलवाड़ी'' के चौदह खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं, उनके व्यक्तित्व और साहित्य कर्म का यही पक्ष सर्वाधिक समर्थ और सार्थक दिखाई देता है। इसका मुख्य कारण यह है कि लोक गीतों, गाथाओं और पारम्परिक लोक कथाओं के रूप में राजस्थानी समाज की जो सांस्कृतिक सम्पदा आज़ादी के वाद हमारे जीवन व्यवहार में तेजी से आते हुए बदलाव के कारण विलुप्त होती जा रही थी, उसे व्यवस्थित ढंग से सुरक्षित रख लेना बहुत आवश्यक हो गया था और इस आवश्यकता को विजयदान देथा और कोमल कोठारी सहित डा. कन्हैयालाल सहल, रानी लक्ष्मी कुमारी चुंडावत, देवी लाल सामर, गोविन्द अग्रवाल, भवानी शंकर उपाध्याय, मनोहर शर्मा आदि अनेक लोक कथाविदों और वरिष्ठ साहित्यकारों ने वखूवी समझा और अपने निजी प्रयासों से राजस्थानी लोक साहित्य की इस धरोहर को अपने-अपने ढंग से लिपिवद्ध कर प्रकाशित करने का जो ऐतिहासिक कार्य आरंभ किया उसमें रूपायन संस्थान का कार्य निश्चय ही अधिक व्यवस्थित, योजनावद्ध और सर्वाधिक महत्वपूर्ण साबित हुआ। यह योजना कितनी प्रभावकारी सिद्ध हुई यह बात ''फुलवाड़ी'' के पहले भाग के तीसरे संस्करण में प्रकाशित संस्थान के अध्यक्ष चंडीदान देथा की भूमिका से स्पष्ट है- ''गांवों में साहित्य, कला और संस्कृति री चेतना वाप रे, इण ख्याल सूं म्हारै गांव में रूपायन संस्थान'' री थापना करी। गांव में संस्थान रौ छापाखाना लगायौ। कदीमी लोक साहित्य अर आधुनिक नवा साहित्य ने प्रकाशित करणों, औ संस्थान रौ मोटो ध्येय है। संस्थान री तरफ सूं लोक कथावां रै प्रकासण सारू ''वाणी'' नांव रौ मासिक छापों चाले करियौ।

आज दिन तक करीव सात सौ लोक कथावां अर छह उपन्यास संस्थान सूं प्रकासित व्हैला है। ...पण वगत-परवांण वेगा-सूं-वगा अैड़ा बीस भाग प्रकासित करण री योजना जिण दिन संपूरण व्हैला, उण दिन आज रौ औ हरख पूरण रूप सूं सारथक व्हैला।''

लेकिन अब यह योजना इसी रूप में पूरी हो पायेगी, इसमें संदेह है क्योंकि संस्थान लगभग निष्क्रिय है और इससे जुड़े लोगों की प्राथमिकताएं और मानस पूरी तरह वदल चुके हैं।

अपने उसी लेख में ''वातां री फुलवाड़ी'' के महत्व और विजयदान देथा के दृष्टिकोण और उनके कौशल पर टिप्पणी करते हुए मैं लिख चुका हूँ कि ''अन्य संग्रहों की कथाओं से ''बातां री फुलवाड़ी'' की कथाओं का एक मौलिक अंतर यह भी है कि अन्य लोगों ने जहां राजाओं, राजवंशों, सवर्ग जातियों, शूरवीरों की कथाओं और प्रेमाख्यानों के माध्यम से स्वामी भक्ति, वीरता, दानशीलता, वलिदान पतिव्रत धर्म, सतीत्व, दया और सहनशीलता जैसे सामंती समाज व्यवस्था के पोषक मूल्यों को महिमा मण्डित करने का प्रयास किया, वहीं विजयदान देथा ने आज के जनतांत्रिक समाज की नयी आकांक्षाओं के अनुरूप स्वाधीनता, समानता, लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, नारी-स्वातंत्रय और आत्म-सम्मान जैसे मानवीय मूल्यों और मानवाधिकारों को परिपुष्ट करने वाली जीवंत और प्रेरणादायी लोक कथाओं का चयन कर उन्हें अपनी प्रवाहमयी भाषा में ''फुलवाड़ी'' के माध्यम से राजस्थानी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया, बल्कि इस अर्थ में उन्होंने राजस्थानी भाषा का ऐसा परिष्कृत गद्य और पाठक वर्ग तैयार किया जैसा हिन्दी में वावू देवकी नंदन खत्री या गुजराती में झवेरचन्द मेघाणी ने किया था।

इन लोक कथाओं के माध्यम से पहली बार पद और पेशे की प्रभुता के सम्मुख श्रम की प्रतिष्ठा और नारी के आत्म-सम्मान का प्रभावशाली स्वर उभरा। सामंती समाज में अछूत और उपेक्षित समझी जाने वाली मेहनतकश जातियों (नायक, बनजारे, भील, जोगी, कालवेलिये, राईके, कुम्हार, लुहार, नाई, तेली आदि) के कर्मठ पात्रों को पहली बार उस तथाकथित सवर्ण समाज के शूरवीर और चतुर समझे जाने वाले पात्रों के मुकावले ज्यादा धीर-गंभीर और व्यवहार-कुशल बना कर प्रस्तुत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करना कोई साधारण काम नहीं था। यही नहीं बल्कि "फुलवाड़ी" की इन लोक कथाओं के माध्यम से ग्रामीण समाज में व्याप्त अंध-विश्वासों, रूढ़िवादिता और धार्मिक आडम्बर की जैसी धज्जियां उड़ाई गई हैं, वह राजस्थानी लेखन के क्षेत्र में नयी चेतना के उद्घोष की जीती-जागती मिसाल है। निश्चय ही विजयदान देथा के उस आरंभिक दौर के लेखन में उस वैज्ञानिक और प्रगतिशील दृष्टिकोण के पीछे उनके गंभीर अध्ययन, मध्यमवर्गीय जीवन-अनुभव ग्रामीण समाज के प्रति सहज सहानुभूति, मेहनतकश लोगों से भावात्मक लगाव और नारी के प्रति अटूट अनुराग तथा सम्मान की भावना का गहरा प्रभाव रहा है।"

"हमें इस वात को भी मान लेने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि आज अगर राजस्थानी लोक कथाओं को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो ख्याति प्राप्त हुई है और उनके मंचन, प्रसारण और फिल्मांकन के वड़े माध्यमों द्वारा व्यापक उपयोग की जो संभावनाएं वनी हैं, उनके पीछे निश्चय ही विजय दान देथा और कोमल कोठारी के सतत श्रम और सूझ-बूझ की निर्णायक भूमिका रही है।"

"फुलवाड़ी" का दसवां भाग प्रकाशित होने तक इस योज़ना में "लोक कथाओं को नये रूप में ढालने" जैसा कोई अतिरिक्त आग्रह भी नहीं था, बल्कि दसवें भाग की भूमिका में "फुलवाड़ी" के मूल उद्देश्य और संकल्प को दोहराते हुए वकौल कोमल कोठारी के "वातां री फुलवाड़ी" के द्वारा यही प्रयल किया जा रहा है कि वर्तमान ग्रामीण समाज से लोक कथाओं को संग्रहीत किया जाय और उनके परिप्रेक्ष्य में वर्तमान सामाजिक मूल्यों एवं स्थितियों का मूल्यांकन किया जाय। "वातां री फुलवाड़ी" में प्रकाशित कथाओं का एक निश्चित रूप वन जाने के वाद ही हम यह प्रयल करेंगे कि उसे भारत के भौगोलिक क्षेत्रों में एवं इतिहास के काल-मान के परिप्रेक्ष्य में पुनः परखें और उनसे निर्मित मूल्यों एवं निर्णयों का पृथक अध्ययन प्रस्तुत करें।"

सन् 1972 में प्रकाशित यह दसवां भाग विजयदान देथा की लोक-कथा-लेखन शैली में महत्वपूर्ण वदलाव की सूचना देता है। इसी भाग की कथाओं को मौलिक साहित्य का दर्जा देते हुए केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने विजयदान देथा को सन् 1974 में अकादमी पुरस्कार प्रदान किया और वहीं से राजस्थानी की मौलिक कृतियों पर अकादमी पुरस्कारों की शुरुआत हुई। "फुलवाड़ी" के भूमिका लेखक और विज्जी के अनन्य सहयोगी कोमल कोठारी तव साहित्य अकादमी में राजस्थानी भाषा के प्रतिनिधि थे। उन्हीं वर्षों में कुछ उभरते हुए नये फिल्मकारों का राजस्थान की इस लोक सम्पदा की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ और मणि कौल में "फुलवाड़ी" के दसवें भाग की कथा "दुविधा" पर इसी शीर्षक से पहली कला-फिल्म बनाई। व्यावसायिक दृष्टि से यह फिल्म सफल नहीं रही लेकिन उसका प्रचार पक्ष काफी प्रभावशाली रहा। इसी से उत्साहित होकर कुछ और फिल्मकारों ने इन कथाओं में दिलचस्पी दिखाई। उधर हवीव तनवीर जैसे विख्यात मंच निर्देशक ने दसवें भाग की एक और नाटकीय कथा "खांतीलो चोर" का "चरणदास चोर" के रूप में प्रभावशाली नाट्य-रूपान्तर कर उसे देश के विभिन्न भागों में प्रस्तुत किया और अपूर्व ख्याति अर्जित की। हवीब तनवीर ने लोक कथा की मिल्कियत के मसले को अपने स्तर पर सुलझाते हुए इस रूपान्तर की दो चार प्रस्तुतियों के वाद मूल कथा लेखक के रूप में विजयदान देथा का हवाला देना छोड़ दिया और संभवतः यहीं से विज्जी के सामने कथा के श्रेय और कॉपीराइट का मसला एकाएक महत्वपूर्ण हो गया। "वातां री फुलवाड़ी" के आरंभिक नौ भागों के मुख पृष्ठ पर "राजस्थान री कदीमी लोक कथावां" का जो उप शीर्षक छपा रहता था वह दसवें भाग के प्रकाशन तक आते-आते हटा दिया गया। "फुलवाड़ी" के नौ भागों तक प्रत्येक भाग के अंत में लिपिकार को उस संग्रह-विशेष की लोक कथाएं सुनाने वाले जिन संदर्भ व्यक्तियों का हवाला रहता था, उस ईमानदार प्रक्रिया को भी दसवें भाग से बंद कर दिया गया, बल्कि इन कथाओं पर अपना सर्वाधिकार घोषित करते हुए "फुलवाड़ी" के प्रकाशन विवरण में स्पष्ट ही लिख दिया गया "सव अधिकार लेखक रै हस्तै" अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब अगर कोई भी व्यक्ति "वातां री फुलवाड़ी" में छपी हुई राजस्थानी लोक कथा का किसी भी रूप में उपयोग करना चाहेगा तो उसे लेखक (?) विजयदान देथा की विधिवत अनुमति लेनी होगी (और संभवतः उनकी व्यावसायिक अपेक्षाओं को भी पूरा करना आवश्यक होगा) इसी क्रम में सन् 1979 में "फुलवाड़ी के खण्डों में से कुछ चुनिन्दा कथाओं के हिन्दी रूपान्तर के रूप में प्रकाशित "दुविधा" संग्रह के फ्लैप पर अंकित टिप्पणी थोड़ी ध्यान से पढ़ी जाने की अपेक्षा रखती है- "विजय दान देथा ने इन कहानियों में लोक कथाओं की शैली, अभिप्राय, कथा वस्तु, रूढ़ियों और घटनाओं के बीज तत्वों का ही समाहार किया है। इस दृष्टि से ये कथाएं लोक कथाओं से एकदम भिन्न व्यक्तित्व रखती हैं।" यह भिन्न व्यक्तित्व क्या है? बल्कि हिन्दी रूपान्तरण के दौरान पूर्व घोषित "लोक कथाओं के संग्रह" का संकल्प जिस तरह से "कथाओं के सृजन-संयोजन" में तब्दील हुआ है, वह अनायास नहीं है। वह उनकी बदली हुई मानसिकता की पहली सार्वजनिक उद्घोषणा थी और यहीं से विजयदान देथा एक विवादास्पद और महत्वाकांक्षी लेखक के रूप में उभर कर सामने आये, जिसका पूर्णाकार प्रतिफलन कालान्तर में उन्हीं के द्वारा सम्पादित प्रकाशित कथित सम्यक रचनावली "रूंख" के रूप में उद्घटित हुआ, जिसमें जगह-जगह उनकी सफाइयां और गर्वोक्तियां कम रोचक नहीं है।

अपने विश्लेषण में विजयदान देथा की इस बदली मानसिकता और महत्वाकांक्षा के बारे में मैं काफी विस्तार से लिख चुका हूं। लोक सम्पदा के प्रति अपनाये गये इस नये रवैये के कारण जो विडम्बनापूर्ण स्थिति बनी है, उसी के चलते आज विजयदान देथा के साहित्य कर्म पर टिप्पणी करना जितना कठिन और दुविधापूर्ण हो गया है, उतना ही आवश्यक और चुनौतिपूर्ण भी। लोक कथाओं के हिन्दी रूपान्तरण "दुविधा" और "उलझन" के प्रकाशन के उपरांत राजस्थान की लोक-सम्पदा में अपरिचित जिन हिन्दी लेखकों और पाठकों के बीच वे जितने चर्चित और समादृत है स्वयं अपने ही प्रान्त और परिवेश के समान धर्माओं और पाठकों के बीच उतने ही विवादास्पद और संदिग्ध। संयोगवश से मैं भी उनकी हिन्दी और राजस्थानी रचनाओं का एक अरसे से नियमित पाठक रहा हूं और अपने छोटे से साहित्य कर्म के दौरान एक प्रासंगिक चर्चा में संयोगवश लिखा भी है कि "विजयदान देथा ने "वातां री फुलवाड़ी" के रूप में जो संकलन तैयार किया है उसका निश्चय ही बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्व है, लेकिन इससे आगे अगर वे इसे मौलिक सृजन की होड़ में खड़ा करते हैं तो खुद वो घाटे में रहते ही हैं, राजस्थानी के बड़े मकसद को भी आघात पहुंचाते हैं।" (दौर अर दायरौ, पृष्ठ 105) यह बात मैंने सन् 1975 में प्रकाशित अपने एक लेख में कहीं थी और विजयदान देथा का पूरा सम्मान करते हुए मैं आज भी अपनी इस बात पर कायम हूं।

हैरत की बात यह है कि कुछ लोग लोक सम्पदा के संग्रह संरक्षण और उसके अध्ययन-अनुसंधान को मौलिक सृजन के मुकाबले शायद बहुत छोटे दर्जे का काम मान बैठे हैं, जबकि इन दोनों ही तरह के साहित्य और सांस्कृतिक कर्म की अपनी-अपनी अहमियत है और इनके बीच प्रतिस्पर्धा की कोई गुंजाइश नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि विजयदान देथा की सर्जनात्मक प्रतिभा को लेकर साहित्य में कोई बड़ी बहस छिड़ गई हो- वे जितने प्रतिभाशाली सर्जक हैं उससे कहीं ज़्यादा गंभीर लोक-सम्पदा के विवेकशील संग्राहक और सजग संस्कृतिकर्मी हैं, इस बात को जिस दिन वे स्वयं समझ लेंगे, उनके किसी प्रशंसक या पक्षकार को इस मसले पर ज़्यादा ज़िरह करने की ज़रूरत शायद नहीं पड़ेगी।

नंद भारद्वाज ६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साक्षात्कारः

त्रिलोचन से रमेश दत्त दुवे

लोक का मतलब

प्रश्नः लोक को अनेकों तरह से परिभाषित किया गया है। आपके मन में लोक की क्या अवधारणा हैं?

त्रिलोचन जीः पहले लोक शव्द वेद शव्द के साथ ही जुड़कर आता था। वेदों के अनुकूल जीवन रखना ज़रूरी था। इसके वाद वेदों में जिसका निर्देश नहीं है लेकिन लोक जीवन में जिसकी प्रतिष्ठा है, मर्यादा है, मान्यता है- उसको भी मान्य ठहराया गया तो लोक और वेद दो हैं। इन्हीं दो पर तुलसीदास ने वल दिया है रामचरित मानस में। लोक और वेदानुकूल जो हैं वही लोक का भी मान्य है और लोक की रीतियाँ विभिन्न स्थानों के कारण भिन्न हो सकती हैं, यह मान्य ठहराया है और इसका पालन किया है। इसके वाद अव जो लोक शव्द का व्यवहार हो रहा है, वह एक विशेष अर्थ में है। लोक तत्व उस तत्व को कहा जाता है जो संस्कार रूप में लोगों में है, रस्मोरिवाज में है और कई चीजों में है। इनके अनुसार जो होता है जिसमें गान-वैयक्तिक गान और सामूहिक गान चाहे पुरुषों के हों, चाहे स्त्रियों के, चाहे वच्चों के, वच्चियों के ये तमाम जो हैं लोक की परिभाषा के अन्तर्भुक्त विषय है। तो लोक कथायें जो महापुरुषों को आधार वनाकर हैं या अपने स्थानीय खास काम करने वाले व्यक्तियों के आधार पर, लोक कथाओं में आती हैं और लोक कथायें अनेक तरह की कहानियाँ जैसी कहानियों का संकलन अलिफ लैला में है या हमारे यहाँ कथा सरित सागर में है जिसका मूल रूप (गुणाढ्य की वड्डकहा) में था गुणाढ्य की वड्ड कहा अव मूल रूप में मिलती नहीं। संस्कृत में इसके दो रूपान्तर मिलते हैं। एक तो सोमदेव का 'कथा सरित सागर' है और दूसरा क्षेमेन्द्र का 'वृहत कथा मंजरी'। अलंकृत गद्य में और कहीं-कहीं श्लोकों में 'वृहत कथा मंजरी' लिखी गयी है और वड़ी चीज है और मूल किताव इन दोनों को मिली होगी तभी इन दोनों की शैली में भी अन्तर है। 13 वीं-14 वीं सदी की है कथा सरित सागर और लगभग 1000 वीं ईसवी की है वृहत कथा मंजरी जिसके कर्त्ता हैं क्षेमेन्द्र और सोमदेव ये दोनों वो हैं तो सोमदेव ने कहानी को अपने ढंग से कहा और ये कहानियाँ पढ़ी जाती है। तो केवल कहानी ही लोक की सीमा नहीं सूचित करतीं। कहानी, लोक का इतिहास लोक के रस्मोरिवाज जो वदलते रहे हैं ये तमाम आ जाते हैं। इसको लेकर जो जीवन में मिलता है, उसे लोक संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति शव्द यूं तो संस्कार का स्त्रीलिंग है लेकिन उससे भी वड़ी चीज है, व्यापक अर्थ है। तो लोक तत्व में वह तत्व जिसकी ओर लोगों का ध्यान नहीं है- शास्त्रीय संगीत और संगीत के नाना भेद-उपभेद ये तमाम लोकगीतों से ही प्रभावित रहे हैं। मूल में जो लोकगीत था उसी को शास्त्रीय गायकों ने शास्त्रीय मर्यादा और पावन्दी के साथ पेश किये तो शास्त्रीय संगीत का जनक लोक संगीत ही है। इसी तरह से जव काव्य में एक विशेष प्रवृत्ति चलते-चलते अनाकर्षक और नवीनता का बोध देने में असमर्थ हो जाती है, तब लोक तत्त्व से प्रभावित होकर कवि जन जीवन का संचार करता है। अपने वहुजन मान्य सिद्धान्तों में और इस तरह से साहित्य जव कभी नया होना चाहता है तो उसे लोकतत्त्व की ओर ही आना पड़ता है और लोक तत्त्व जिसमें कम पड़ जाये वह उतना ही कमजोर हो जायेगा।

प्रश्नः आपके एक सानेट की पंक्ति है- 'तुलसी वावा भाषा मैंने तुमसे सीखी'- इस पंक्ति का क्या अर्थ है? क्या आधुनिक हिन्दी लोक वोलियों और भाषा की तुलना में कमतर है? क्या हिन्दी आपके काव्य सम्वेदन को पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर पाती?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रिलोचन जीः आपके इस एक प्रश्न में अनेक बातें मिली हुई हैं- एक तो यह कि मेरी कविताओं में, काव्य रचना में मैं किनसे प्रभावित हुआ। ये सही है कि मैंने रामचरितमानस बराबर पढ़ा है। और बराबर पढ़ने पर उसमें जो रचनात्मक संभावनायें हैं उनका असर तो आयेगा ही। मैंने तुलसीदास से रचना की प्रेरणा प्राप्त की लेकिन तुलसीदास मेरे समय से करीब 400-500 साल पहले हुए उस समय की मान्यतायें जिन पर विचार नहीं होता था, बात नहीं होती थीं वो सर्वजनमान्य और समर्थित थीं। आज वो बात नहीं रह गयी है। ऐसी मान्यताओं से मेरा सम्बन्ध नहीं है। लेकिन शब्दों के प्रयोग में तुलसीदास जी से सीखा जा सकता है। तुलसीदास के यहाँ शब्दों का प्रयोग दो तरह का है- साहित्य में मान्यता प्राप्त शब्द भी आये हैं और लोक में प्रचलित शब्द, पद और मुहावरे भी हैं तो तुलसीदास से यहाँ सीखा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि आज अवधी का जो रूप हो गया है, वह तुलसीदास की अवधी के समय से या जायसी के समय से काफी कुछ बदल गया है। तुलसीदास से कुछ पहले, कुछ ही पहले जायसी हुए। जायसी ने अपनी काव्य रचना में बोलचाल की अवधी का और शब्दों और मुहावरों का प्रयोग वही किया है जो तब प्रचलित थे। इस तरह से जायसी को समझने के लिये उस समय के समाज को समझना भी जरूरी है। लोक तत्त्व में समाज अपने पूरे अर्थों में आता है। मेरे यहाँ- जैसे तुलसीदास ने एक जगह लिखा है- हर्ष का बयान करते हुए उन्होंने लिखा है- 'मनहु सिखिनि सुनि बारिद बानी,' तो बादलों का गर्जन नहीं लिखा, बारिद बानी लिखा, इसका मतलब मधुर-मधुर गर्जन की आवाज आ रही है और कुछ बूंदाबांदी भी हो रही है, ऐसे में मोरनियाँ जिनको पावस में विशेष वो होता है और मोर नाचते हैं स्वेच्छया। नाचने का गुण मोर में होता है, मोरनी में नहीं लेकिन हर्ष तो मोरनी में भी होगा, नृत्य नहीं। आज के साहित्यकार जानकारी कम होने के कारण कहीं-कहीं मोरनी को ही नचाते हैं। इसी तरह से नर कोयल बोलता है, उसकी आवाज में पंचम का स्वर है, मादा कोयल में न वह आकर्षण है, न स्वर की वह गहराई है, वह मिठास है। तो यह सब तो जानना चाहिए। लोक से ही यह सब व्यवहार समझ में आयेगा लेकिन बहुत सी बातें कवियों में प्रचलित हो गयी थीं और प्रचलित हो जाने पर सदोष होते हुए भी उनको ठहराना पड़ेगा कि चलिये ठीक है। बहुत सी, अब जैसे कमल का रात में मुंद जाना, ये तो होता ही नहीं है, अगर पूरा कमल खिला है तो वह मुंदना नहीं जानता और कुछ फूल ऐसे हैं कि पूरे न खिले हों तो रात में मुंद जायेंगे जैसे रातों में देखा जाये तो अड़हुल का फूल पूरा नहीं खिला है तो मुंद जायेगा, दूसरे दिन खिलेगा वह फिर।

प्रश्नः आपकी एक काव्य कृति अवधी में है- ऐसा क्यों?

त्रिलोचनः मैं यह मानता हूँ कि वह भाषा गद्य और पद्य दोनों में सधी हुई है और उसकी बहुत सी व्यंजनायें आधुनिक हिन्दी में नहीं दी जा सकतीं। यानी कम से कम दो तिहाई व्यंजनायें अवधी की ऐसी हैं जिनको आधुनिक हिन्दी में देना फूहड़ हो जायेगा। क्योंकि आधुनिक हिन्दी संवारी हुई और निखारी हुई भाषा को कहते हैं। और यह कहें कि यह किसी की बोली नहीं है- न तो पश्चिम के व्याकरण को पूरा लेती है, न यह पूर्वी बोलियों के या कहें अवधी का पूरा व्याकरण लेती है।

प्रश्नः एक समय था जब बोलियों में लिखी गयी कविता हिन्दी समाज का अंग बनती थी। आज भी अवधी या ब्रज को न जानने वाला भी उन बोलियों में लिखे गये हमारे क्लासिक्स को समझ लेता है। यहाँ बोली में लिखने वालों को अन्य अंचलों में नहीं समझा जाता ऐसा क्यों हुआ?

त्रिलोचन जीः असल में आधुनिक हिन्दी का जो विकास है, उसका व्याकरण जो है, किसी बोली से मेल नहीं खाता- न बुन्देली से, न अवधी से और न बघेली से, न भोजपुरी से। यहाँ तक कि ब्रजभाषा से भी आधुनिक हिन्दी का कोई मेल नहीं है- व्याकरण की दृष्टि से तो ग्रामर इन बोलियों का अलग है। स्वयं बुन्देली में इतनी बोलियाँ हैं जो किसी अचंल में ज्यों की त्यों नहीं चलतीं जैसे सागर की, छतरपुर की, पन्ना-बिजावर की बुन्देली- इसका ग्रामर अलग है, शब्द समूह भी भिन्न है। और इसी तरह चिरगांव, झांसी, ललितपुर, इन तमाम जगहों की बुन्देली अलग है। यहाँ तक कि कारक के व्यंजक चिन्ह अलग हैं। ये अन्तर होते हुए भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केवल भाषा की दृष्टि से विचार करने वाले को यह प्रेरणा मिलती है कि वो वोली तो एक माने यानी भाषा का- पूर्ण भापा है वुन्देली लेकिन वुन्देली की ये अनेक वोलियाँ हैं- हमीरपुर की वुन्देली अलग रचाव ले लेती है, इसी तरह से टीकमगढ़ आदि की वुन्देली दूसरा वनाव रखती है। अगर कोई सागर में रहता हुआ, सागर की वुन्देली लिखता है, तो वह गलत काम करता है- यह नहीं कहूँगा जैसी सागर में वोली जाती है, वैसी वह लिखेगा। अगर सागर में लिखने वाले प्रथम कोटि के साहित्यकार हुए तो निर्विवाद रूप से इन साहित्यकारों का असर दूसरे क्षेत्रों में रहने वाले साहित्यकारों पर होगा और उनकी वुन्देली जो होगी वह सागर के साहित्यकारों की वुन्देली से जहाँ-तहाँ मेल खाते हुए भी भिन्न तो रहेगी लेकिन वुन्देली की ही एक शाखा होगी।

प्रश्नः क्या आधुनिक हिन्दी का वोलियों के साथ लगभग वही सम्वन्ध नहीं है जो उसके साथ अंग्रेज़ी का है।

त्रिलोचन जीः आधुनिक हिन्दी जिसे कहते हैं, उसका पूरा-पूरा विकास 19 वीं सदी के उर्दू साहित्य के गद्य साहित्य में है। उनके यहाँ उपन्यास वड़े-वड़े लिखे गये। आज भी लोग पढ़ते हैं, उन पर अनुसन्धान करते हैं और हिन्दी जव लिखी गयी तो ज्यादातर पश्चिमी अचंल के कवि जो हुए हैं उन्होंने उर्दू में कवितायें लिखी और उन्होंने उर्दू की ही लिपि में अपनी रचनायें दी हैं। जहाँ-तहाँ उन्होंने पश्चिम के मुहावरे और शंव्द भी लिये हैं लेकिन यह धीरे-धीरे कम होता गया। जैसे 'ओक' शव्द का व्यवहार है ग़ालिव में। 'लोक' को वोलते हैं पूरव की वोलियों में चुल्लू- 'पिला दे ओक से साकी- - - ' तो ग़ालिव के यहाँ 'ओक' का व्यवहार है लेकिन यह 'ओक' शव्द मुझे हिन्दी के किसी कवि में नही मिला। इसी तरह से ग़ालिव ने अपने एक शैर में लिखा है- ग़ालिव नहीं मीर ने अपने एक शैर में कहा है- उन्होंने कहा है- 'आगे किसू के क्यों करे दस्तेतमा दराज़, वो हाथ सो गया है सिरहाने धरे-धरे" तो हाथ का सो जाना, पाँव का सो जाना, यह वोलचाल की व्यंजना है। दिल्ली में आज भी वोला जाता है। खड़े होने में जव खडे होते नहीं वनता, पूरव वाले जिसे कहते हैं- पाँव में झिनझिनी, उसी को वे कहते हैं- पाँव सो गया है तो वही झिनझिनी वाली हालत यानी कि रक्त प्रवाह रुक गया है। असल में पश्चिमी तेवर ज़ुवान का यह उर्दू की पुरानी कविता में मिलता है। ये धीरे-धीरे कम होता गया। उर्दू में मतरूकात की फेहरिस्त वनायी गयी और वनाने वाले थे उस्ताद नासिख़। नासिख़ ने वहुत से शव्दों की सूची दी और कहा कि इनका इस्तेमाल इस ज़ुवान में नहीं आना चाहिए। उसमें 'टुक' एक शव्द है। तो टुक का प्रयोग उर्दू के पुराने शायरों में है। मीर के यहाँ तो अगर इस टुक को वदल दें तो मतलव ही खत्म हो जायेगा। इसलिये शव्दों को अनिवार्य वनाता है जव कोई कवि, कविता करता है यानी शव्द का पर्याय नहीं, वही शव्द काम देगा। तो इसलिये क्योंकि हिन्दी वहुत लम्वे-चौड़े क्षेत्र में लिखी जा रही है छापी जा रही है तो लम्वे-चौड़े क्षेत्र के मुहावरे आदि आयेंगे, शव्द आदि आयेंगे और इतिहास की लिखी हुई कितावें- विश्वेश्वरनाथ रेउ ने आधुनिक हिन्दी में वोलियों का इतिहास लिखा है। उसमें राजस्थानी शव्द जो है, वे आते हैं और जो नहीं जानता, उसको जयपुरिया राजस्थान जाना पड़ेगा। इसी तरह से मेवाड़ी का असर मिल जायेगा- गौरीशंकर हीराचंद ओझा में और ओझा ने अपने यहाँ के शव्दों का व्यवहार राजस्थान के इतिहास में दिया है। तो मेरा यह कहना है कि राजस्थान के इतिहास में भी ऐसे वहुत से शव्द हैं। स्वयं राजस्थान के शव्द वनस्पतियों के और वृक्षों के फूलों के- उनके नाम ही अलग हैं, यह नहीं कि अन्यत्र वे मिलते नहीं है, वहु तेरे तो वहीं मिलते हैं। तो इन तमाम का वोध तो राजस्थान में रहनेवाला कवि तो जरूर लायेगा। लेकिन आधुनिकता के जोश में जो राजस्थान की उपेक्षा करेगा, वह हिन्दी का कमजोर कवि, पिछलगुआ कवि तो रहेगा। तो मेरा यह कहना है कि भाषा में ओज-तेज-वल तव आता है जव लेखक अपने परिपार्श्व को ज्यों का त्यों रखना चाहता है और जितना आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में खप सके उतना वह देता है तो आधुनिक हिन्दी उससे दिनों दिन समृद्ध होगी और उसकी शव्द राशि वढ़ती जायेगी और जैसे समुद्री जीवन है, नवपरिवहन है, जहाजी शव्द है और जहाज के वन्दरगाह वगैरह हैं, वहाँ के शव्द उन्हीं भाषाओं में मिलेंगे जो भाषायें हिन्दी से भिन्न हैं। और इन शव्दों को हिन्दी का ही मानकर हमें चलाना होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंग्रेजी के जो शब्द हिन्दी में खप गये हैं, वे तो चलेंगे लेकिन अगर आप साहित्य की आलोचना के भी शब्द देंगे और बिना आलोचना के प्रकरण के तो यह गलत काम होगा। हिन्दी में लिखिये तो हिन्दी में सोचिये और हिन्दी की बोलचाल की भाषा में पारिभाषिक शब्द लाइये, ये आपकी शक्ति देखी जायेगी। हिन्दी भी पढ़ने की चीज है और उसे बिना पढ़े लिखने की हिम्मत करना, हिम्मत ही करना है और हिम्मत हमेशा कामयाब हो, जरूरी नहीं।

प्रश्नः समकालीन हिन्दी साहित्य में बोली में लिखने वाले कौन से महत्वपूर्ण कवि हैं? क्या ये दोयम दर्जे के कवि हैं?

त्रिलोचन जीः जैसे मैं प्रथम श्रेणी के कवियों में मानता हूँ- ईसुरी, ख्यालीराम, गंगाधर व्यास को। इनको अगर कोई दोयम दर्जे का कहता है तो उसे दोयम दर्जे के अलावा कुछ भी मालूम नहीं है। उसे कहने का हक है, कारण ये है कि साहित्य में आपको यह हक है कि किसी को कहें कि कूड़ा लिखता है और मुझे ये हक है कि अमर साहित्य लिखना है। तो, लेकिन, हम और आप इस पर लड़ें न।

प्रश्नः लोक कविता के छन्द विधान, शिल्प, भाषा आदि के सहारे हिन्दी के कुछ प्रतिष्ठित कवियों ने कवितायें लिखी हैं। इसके पीछे इन कवियों का क्या प्रयोजन रहा है? क्या ये कवितायें मात्र पैरोडियाँ नहीं है?

त्रिलोचन जीः पैरोडियाँ तो आप तब कहेंगे जब - - - एक तो आल्हा का वह रूप आप देखेंगे जिसका19 वीं सदी में तैयार किया हुआ जो पाठ था, उसे इटावा के कलेक्टर ने तैयार करवाया था तो उस समय से और आज जो आल्हा गाया जाता है तो आज के अतिचारों आदि का भी ज़िक्र आता है। तो ये ज़िक्र कवि के आग्रह या रुचि को मानना चाहिए जैसे रामचरित मानस में एक जगह तोपों के दगने का ज़िक्र है लेकिन वहाँ तोप शब्द नहीं आया- गोला है तो गोला चूंकि तोप से ही आता था। तोप शब्द जो तुर्की का है, वो आये न आये, वह है। बन्दूकों का वर्णन आपके यहाँ पुराने काव्य के साथ नहीं मिलता। रामचरितमानस में जो छन्द है उसमें तोप दगने की बात आती है- 'ढ़ाये महीधर शिखर कोटिन विविध विधि गोला चले, घहरात ज्यों पवि पात, गरजत प्रलय के जनु बादरे' तो माने बहरा बना देने वाली आवाज़ यह तोपों की गर्ज ना थी तुलसीदास ने स्वयं सुनी- दूर से या फिर लोगों से इसका विवरण सुना। तो रामचरित मानस में विविध विध गोला भी चलते हैं। हालांकि वाल्मिकी में गोला-गोली चलने की कोई बात नहीं है, तो रामचरितमानस में भी तो एक ही जगह आया है। आल्हा में सफर मैना जैसा शब्द आया है। सफरमैना उस सेना के साथ, अगर जंगल ही जंगल है तो उसे काटने के लिये जो दल होता था, उसी के लिये एक शब्द था जो आल्हा में बिगड़े हुए रूप में मिलता है। तो आल्हा की जो लड़ाई है वो है- घोड़ बेदुला का बयान है और मलखान की घोड़ी कबूतरी का बयान है। आल्हा आदि असाधारण वीर कहे गये हैं। इन सबकी वीरता जो है शरीर रही है- माने उनकी संस्कारगत नहीं। तो मेरा ये कहना है कि इन सब बातों को उसी ढंग से लेना चाहिए और कवि कब का है यह ध्यान रखना चाहिए। जैसे बहुत से कवियों ने कृष्णलीला का बयान करते-करते कृष्ण के बाद घटित होने वाली बातें भी डाल दी हैं। ये सब बातें ठीक तो हैं- इसी को काल दोष कहते हैं। पहले काल दोष नहीं माना जाता था इसलिये इस तरह की बातें अच्छे से अच्छे कवियों में मिल जायेंगी। वहाँ ये कहना चाहिए कि कवियों में ऐसी परम्परा थीं, इसलिये जैसे मैं आपको बता रहा था कि हाथ नहीं आ रहा है- हाथ। लिख दिया। आप बुन्देली में लिख रहे हैं तो आपके यहाँ हाथ बोलते हैं तो वही लिखना होगा- हाथा नहीं बनाना पड़ेगा या हाथी नहीं बनाना पड़ेगा, है न, अब हाथी मारना यानी - - - आपके हाथ पर ताली मारकर मैं भाग रहा हूँ आप मुझे पकड़िये- यह हाथी मारना है। यह मत समझिये कि हाथी का वध किया। हाथी का वध वर्जित था सामान्य जनों को जैसे आज शेर दिखाई दे और आपके हाथ में पिस्तौल हो आप गोली चला दें तो भाई जान, आप पर मुकदमा जरूर चलेगा। आप यह कह बच नहीं सकते कि वह आपके ऊपर झपट रहा था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्नः हिन्दी के कुछ लेखक लोक का इस्तेमाल करते हैं। वे लोक कलाओं को अपने उद्देश्यों-मन्तव्यों के अनुसार मोड़ लेते हैं। क्या यह लोक में नकारात्मक हस्तक्षेप नहीं है?

त्रिलोचनः लेखक कहाँ से वनते हैं, जानते हैं- अपनी प्रतिभा से नहीं, प्रतिभा का संकलन ये उसी प्रकार करते हैं जैसे मधु-मख्खी फूलों से पराग का और पराग को शहद में परिवर्तित करना भी वही जानती है तो पराग को या पुष्परस को शहद में वदलने की जिनमें शक्ति होगी वे समर्थ होंगे बाकी अभ्यासी रहेंगे। अभ्यासियों को भी कवि कहने में आपकी क्या हानि है- कहिये कवि, जैसे मैथिलीशरण गुप्त का मैं आदर करता हूँ। वे न होते तो मैं आधुनिक हिन्दी लिख न पाता लेकिन मैथिलीशरण गुप्त की प्रतिभा परतन्त्र है या तो संस्कृत कवियों के पैरेलल सोचकर उन्होंने लिखा है- स्वतन्त्र कल्पना कम है लेकिन अव ये कि जव रोती है वह - - - क्या नाम है उस महिला का - - -उर्मिला। उर्मिला रोती है, चौदह साल रोती होगी तो चौदह साल के परिणाम में तो नहीं रुलाया है फिर भी एक किताव की शक्ल में रुला दिया है। कालिदास ने भी इतना नहीं रुलाया है अज को और नायिकाओं को भी नहीं रुलाया है इतना। रोना नहीं है- जीवन वड़ी चीज है। आपका दुःख उतना विशाल नहीं है जितना विशाल सुख नहीं है। यह सुख-दुःख से ही जीवन होता है। तो मेरा यह कहना हैकि सन्तुलित आना चाहिए जैसे दाल में नमक होता है तो दाल में नमक जितना चाहिए, यह नहीं कि आधा सेर नमक डाल दीजिये तो फिर खाते नहीं वनेगी।

प्रश्नः लोक कलायें समूह का सृजन हैं। यहाँ व्यक्ति के सृजन की कितनी गुन्जाइश होती है? इन कलाओं में प्रयोग, विशेषीकरण, पुनराविष्कार आदि की कितनी और कैसी सम्भावना होती है?

त्रिलोचन जीः शब्द वढ़िया है, यह प्रश्न भी वढ़िया है। लोकलायें सामूहिक सृजन होती हैं। यह समूह सृजन जव समूह गायन में पेश किया जाता है और मान लीजिये कि कहीं भूला तो गद्य भी गाते चलते हैं- उसी लय में, इतना मालूम है। हमने पुरानी वृद्धाओं के गायन सुने हैं और उनको जोड़ते भी देखा है लेकिन जो जोड़ती हैं, वह रीति-रिवाज के अनुसार, ऐसा नहीं है कि अन्ट-शन्ट कुछ भी जोड़ती चली जायें। गारी-वारी कुछ गाती हैं तो लोगों के नाम जोड़ लेती हैं और लयदारी वही होती है जो गारी की होती है। तो सुधारवादी तो गारियों के विरोधी हो गये हैं इसलिये ये फार्म धीरे-धीरे मिट जायेगा। तो वहुत-सी - - - - जैसे हमारे यहाँ किसी लड़की को वेशऊर कहते हैं तो कहा जाता है कि उसकी वात क्या करते हो, उसे तो रोने का भी शऊर नहीं है। रोने में भी शऊर चाहिए। ये नहीं कि आपकी आँखों से आँसू वह रहे हैं और आपको रोना आता है। रोते समय कुछ गाते जाना यह शऊर था और अब विदा के समय लड़कियाँ नहीं रोतीं- भाई की टांग पकड़कर, वाप की टांग पकड़कर, माँ को एकदम भेंटते हुए। यह रोने वाली जो पीढ़ी थी, अव तो गायव हो गयी। तो रोने का शऊर भी होताहै, यह मुहावरा भी मिट जायेगा। ये जरूर है कि उनकी आँखों में पानी आ जाता है लेकिन उसके साथ जो कविता बनती है, वह मुक्त कविता वनती है, भाई जान, गौर किया है। तो इसको तो आज तक किसी कवि ने नहीं लिखा। मैंने तो मुक्त छन्द लिखने की प्रेरणा वहाँ से ली, नहीं तो कृष्ण यजुर्वेद से- गद्य ही है, गेय है जैसे कुरान में है गद्य लेकिन गेय है। लेकिन वह गद्य की गद्यता नहीं मिटती। तो मेरा यह कहना है कि सुकंठ अगर गायेगा तो अकेले भी गायन सुना जायेगा लेकिन सामूहिक गान में सुकंठ और कुकंठ सब सहयोग देते हैं और सव चलते जाते हैं और जहाँ तक हो सके स्वर मिलाते हैं- समूह गान यह है। अव आल्हा जो है वाचन है- गायन नहीं। पचास-पचास हज़ार की भीड़ में अल्हैत जव गाता है तो तलवार भी लिये रहता है और मध्यकालं का पहनावा और तलवार भांजते हुए वह गोलाई में घूमता है- अर्ध गोला में घूमता है और इधर तीन चौथाई तो वह कहता है आल्हा में और एक चौथाई जो वच गया तो जो जोड़नेवाला है, वह जोड़ता है। तो इसे समूह कंठ तो नहीं कहा जायेगा- दो का होता है- अधिक से अधिक तीन हो जायेंगे- इससे ज्यादा नहीं। अच्छे अल्हैत वुन्देलखंड में नहीं होते , जानते हैं कहाँ होते हैं- अवध में। अवध के लोग सरकारी फ़ौज़ों में रखे जाते थे आज भी आल्हा के लिये अवध का अल्हैत वुलाया जाता है तो आल्हा सुनकर लोगों में उत्साह का संचार होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब जैसे कजरी सामूहिक गान भी है, वैयक्तिक गान भी है। विरहा सामूहिक गान भी है, व्यक्तिगत भी है। तो लोकगीत विरहा आपने सुना और विरहा पर आप पढ़ लेंगे। इसके भेद मैं बताऊँ कितने होते हैं- सौ से ऊपर, तो गाने वाला और सुनने वाला जब व्याख्या करेगा तब मालूम होगा, नहीं तो समझेंगे विरहा एक है। नगाड़े पर गाया जाने वाला विरहा अलग होता है- दूसरा अलग होता है।

अच्छा, आपको एक बात बताऊँ- बेस्ट स्टोरी टेलर, ये तो अवध में धन्धे वाले ही होते हैं तो वे आते थे और ज्यादातर फसल कटने के कुछ पहले और महीनों रहते थे एक-एक गाँव में तो उन्हें पूरा गाँव विदाई देता था। यह उनकी आमदनी का जरिया होता था और पुराण की कहानियाँ कहने वाले एक जगह अपना घर बना लेते- बाहर झोंपड़ी और वहाँ रहकर वे पुराण पढ़ते भी रहते थे और जब लोग जुट जायें तो कहानियाँ पुराणों की सुनाते थे। यह मैंने बहुत बाल्यकाल में सीखा जो आपने शायद सुना हो चकराघाट वगैरह जाकर, उस समय तक तो चालू था और अब वे कहानियाँ कहें तो किसके लिये, कोई होता नहीं। तो आपके यहाँ बहुत सी चीजें जो मिट गयीं, उनको कैसे वो कहेंगे और जैसे अफसाना कहने वाले आते थे गाँव-गाँव में, गाँव-गाँव घूमते थे, विदाई पाते थे। घोड़ा रखते थे- टट्टू, तो टट्टू, टांयधन ढेरों शब्द हैं। तो उनपर अपना सामान लादते थे, घर पहुँचा देते थे। तो इस तरह स्टोरी टेलर आते थे- अल्हैत आते थे- बरसाती दिनों में जब पानी ज्यादा बरस रहा हो। आल्हा होने में यह होता था कि पुराना अकश जो होता था, उसका बदला लोग ले लेते थे। तो आल्हा होने में पुलिस की व्यवस्था कराई जाती थी। जैसे आपको बताऊँ- एक लड़की है उसका नाम संज्ञा सिंह है। पता नहीं वो कहाँ की है लेकिन उसकी कविता के सारे संस्कार फैजाबाद जिले के लगते हैं। फैजाबाद जिले की व्यंजनायें आती हैं- आधुनिक हिन्दी में। आधुनिक हिन्दी को विगाड़ रही है, ऐसा भी नहीं है। उसके ग्रामर को जानती है। तो उसकी कवितायें 5-6-7 पढ़िये तो ये लगेगा कि आपके यहाँ ढेरों जो लिखने वाले हैं और पेपर में छपते हैं, उनसे ज्यादा शानदार कवितायें लिखी हैं और जानदार। तो मेरा ये कहना है कि लोक तत्त्व में अब भी बल है। लोक तत्त्व जो समझेंगे, उनके यहाँ तो वह आयेगा। जैसे आपको एक दोहा सुना दूँ इसी पर-

जइ पाविऊ केवीशु, पऊ अकिया कुड्डु करीषु।
पाणिऊ नवइ सराविजिऊं सव्व वंगें पइसीस।।

किसी तरह से मैं प्रिय को पा जाऊँ तो जो क्रीड़ा नहीं की है, वह क्रीड़ा करूँ जैसे जब पानी सकोरे में पैसता है, मैं उसके सर्वांग में पैस जाऊँ। पानी को सकोरे में डालिये तो उसमें से सनसनाहट आती है- कान से सुनिये और मैं सकोरे में पानी डालकर सुना करता हूँ। जब वह आवाज बन्द हो जाये धीरे-धीरे तब उसे अलग करता हूँ। यह इतने कमाल का दोहा है। यह भाव रीतिकाल के एक कवि ने भी नहीं दिया। ऊँची कवितायें भी निम्न कोटि की लगेंगी। संस्कार चाहिए। संस्कार नहीं तो समझेंगे कैसे। कविता जो नकार रहा है, वह नई कविता की शर्तें भी नहीं जानता नई कविता की अपनी शर्तें हैं। उसमें भी अच्छी बातें आ सकती हैं और दुहराव तो करते हैं सीखने वाले और जो सीख चुके हैं, वे अपनी बात कहेंगे।

प्रश्नः भारत भवन में लोक कलाओं को प्रदर्शित किया गया है, भोपाल में ही मानव-संग्रहालय बनाया गया है। क्या लोक कलाओं को इस तरह उनकी जड़ों से काटना उचित है?

त्रिलोचन जीः प्रश्न आपका बढ़िया है लेकिन आपने भारत भवन तक ही अपने को रखा है। दिल्ली में प्रगति मैदान में ग्रामीण झोंपड़े बने हुए हैं तो जो विदेश से लोग आते हैं, उन्हें दिखाया जाता है कि यही माडल है हमारे गाँव का। वैसे घर अगर मिल जायें गाँव वालों को तो वे गर्व करेंगे। प्रगति मैदान कभी गये भी होंगे आप तो आप ये माडल देखने नहीं गये होंगे। लेकिन जो अमेरिका से आते हैं- बड़े लोग, उनको तो ये दिखाये जाते हैं और वे कहते हैं कि भारत के गाँव बहुत अच्छे और आधुनिक सुविधाओं से पूर्ण हैं। आज भी गाँव में लोगों को साँप काट लेता है। ये तो नहीं दिखाया गया है उस माडल गाँव में, सांप भी चल रहा है। तो सांप दिखायेंगे तो और बदनाम हो जायेंगे कि ये मदारियों का देश है। तो मेरा यह कहना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है कि जिनको गाँव देखने की फुर्सत नहीं है और जो आधुनिक है और अब चिल्लाने लगे हैं- उत्तर आधुनिकता। आधुनिकता ही कब आयी आपके यहाँ। एक दिन शराब के कुछ प्याले पी लेने से आप आधुनिक हो गये, ये भ्रम कब तक पालेंगे। आधुनिक होना जीवन का स्तर ही बदल जाना है। यह हुआ नहीं, उत्तर आधुनिकता का नारा बुलन्द हो रहा है और शोध छात्रों को रेता जा रहा है और उत्तर आधुनिकता पर आ रहे हैं ग्रन्थ। तो मेरा यह कहना है कि जहाँ आधुनिकता ही नहीं है, वहाँ उत्तर आधुनिकता कहाँ से आयेगी। आधुनिकता का विरोध यूरोप में इसलिये हुआ कि पहले से सारी दुनिया की फिलासफी को मिलाकर चाहते थे कि हमारी फिलासफी का विकास हो। आज धीरे-धीरे वे देख पा रहे हैं कि उनके यहाँ क्रिश्चियन फिलासफी ही पूरी तरह से नहीं है और जन सामान्य तक नहीं फैली है। आप किसी भीख मांगने वाले से कहिये कि तुम मुसलमान हो जाओ भाई और क्या रखा है इसमें, हिन्दू होने में तो वह कहेगा कि हम अधर्मी नहीं बनेंगे।

प्रश्नः भोपाल में मानव संग्रहालय बनाया गया है। क्या यह शब्द थोड़ा सा विपरीत अर्थ नहीं देता?

त्रिलोचन जीः (हंसी) इसके लिये पहले एक शब्द चलता था- 'नृवंश संग्रहालय। तो, नृवंश तो वंश मूल में जायेगा। मनुष्य कैसे हुआ- उसका तमाम चाहे माडल रखते थे, भूत-ऊत ये तमाम रखा जाता था और उन लोगों के यहाँ है। जैसे शरीर विज्ञान पढ़ाने के लिये शवाच्छेदन की जरूरत है तो शव उनके यहाँ पाना मुश्किल है। तो, वे आपके यहाँ से शव मंगाते हैं। पैसा खर्च कर सकते हैं इसलिये आपके यहाँ लाशें बिकती हैं और लाश विक्रेता हैं आपके यहाँ। तो, बिना चीर-फाड़ किये एक-एक अंग की रचना कैसे समझ में आयेगी। तो, जैसे आपके यहाँ भी वो है-

प्रश्नः लोक कलाकार स्वतः अपनी कलाओं में आधुनिकता को प्रवेश दे रहे हैं और ऐसा वे नागर रुचि की शर्तों पर कर रहे हैं- क्या इससे अप संस्कृति नहीं पनप रही है।

त्रिलोचन जीः मैंने बताया न, कि लोक कलाकार जो हैं, खपनेवाला जो होगा- जैसे मैंने बताया राग में। जो राग राजस्थान में गाया जाता है- तो राग एक ही है। और ऐसे ही उकरेन से लगे कई इलाकों में बिरहा जैसा राग चलता है। बिरहा आपके यहाँ जो चलता है, वह उधर ही रहे हुए लोगों का है। आपके देश में अब न कोई वशिष्ठ की सन्तान है और न आज दिलीप आदि की। न जाने कितना घालमेल हो गया है। कोई न शुद्ध ब्राह्मण है, न शुद्ध राजपूत है, न शुद्ध वैश्य है। बड़ा मेल हो गया है। तब भी इतना ही है कि आप पुरानी किताबों के नाम तो लिख लेते हैं, वो भी पढ़ते हैं या नहीं पढ़ते- तो मेरा यह कहना कि संस्कार रूप में कुछ आप औरों से भिन्न है- जैसे जो बौद्ध धर्म थाइलेन्ड में है उसमें विशुद्ध मान्य देवता है और हैं लेकिन वे बौद्ध धर्म को मानते हैं तो अपने को बौद्ध कहेंगे, तो ईसाइयों ने पैसा खर्च किये, तो ढेरों पैसा खर्च करने के बाद थोड़े से लोग ईसाई हुए, अगर ईसाइयों की तादाद बढ़ गयी तो राजनीति के दबाव में ईसाई हावी हो जायेंगे- - - चीन में भी क्रिश्चियन बने, ये न मानिये कि वहाँ सब बौद्ध हैं और वहाँ बौद्ध धर्म का विरोध 'पॉलीटिकली' भी होता है क्योंकि हम बाहर के विचारक को क्यों महत्व दें- 'कुंगफू' को क्यो न महत्व दें- जिसका अंग्रेजी नाम है- 'कन्फ्यूशियस' तो सवाल ये है कि आपके यहाँ जो महापुरुष आपके ही हैं- जैसे चीन में, चीनी भाषा में इतने अनुवाद हैं कि माओत्सेतुंग बिना अंग्रेजी जाने हुए पालिटिक्स की जो व्याख्या दे गये हैं, वो आश्चर्यजनक है।

प्रश्नः लोक कलाओं में आधुनिकता के प्रवेश से कई चिन्तायें उभरकर सामने आयी हैं- एक तो यही कि नागर मन के मनोरंजन के अजायबघर समाप्त हो जायेंगे, दूसरी यह कि हम अपनी परम्परा के जीवन्त तत्त्वों से सम्पर्क खो देंगे तीसरे यह कि इससे आधुनिकता और उसका मूल्य बोध विघटित होगा- आदि-आदि इस पर आप कुछ कहें?

त्रिलोचन जीः लोक कला में ही बात है। लंगोट पहिनकर, अगर कोई उस पर कोट पहिनकर, टाई लगाकर, आता है तो हंसा जायेगा न, आज भी आपके यहाँ 'ह्मर' छोटी जातियों के जो होते हैं, वे हैट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लगाकर आते हैं और हैट पहिने हुए आदमी को तो वड़े से मारा जाता है। उसको 'करिंगा' कहते हैं- अवध में: महफिल का मसखरा करिंगा,

दिखलाता है 'रंग-विरंगा' तो करिंगा चमारों के नाच में होता था और करिंगा सव नहीं हो सकते थे और तोवड़े जो वनते थे या पीठ पर चमड़े का वो ढालनुमा ढका रहता था कपड़े से, उसी पर मारते थे, तव भी चोट लगती थी और निशान आ जाता था। अवध से वनारस तक एक वात चालू रहीं, हमारे यहाँ होली से चार-पाँच दिन पहले और चार-पाँच दिन वाद तक रंग तो नहीं डालेंगे लेकिन मान लीजिये हम चार-पाँच की मंडली है तो हम गाँव के मुख्य आदमी पर 'सटायर' अभिनीत कर देंगे चलते-चलते-व्यंग और वह इसका वुरा नहीं मानेगा- माफी है। तो छोटी जातियों में भी वह चलती है चीज और वड़ी जातियों का मज़ाक वनाते हैं वे। तो आपके यहाँ धर्मों के ही गर्भ में कई अनुभूतियाँ थीं जो जानते नहीं है पढ़े-लिखे लोग। तो कहाँ लोक की वात कर रहे हैं- लोक ही नहीं मालूम है। लोक नहीं- लांप ही वे जानते हैं।

लोक कला को आधुनिक वनाने का मतलव है कि आधुनिक वेशभूषा को आप मंच पर उतारिये, वे अटपटे लगेंगे। लोक के साथ ही लोक की संस्कृति और कला विकास करती है। ये तो उधार लिया हुआ, हुआ। जैसे वन्दर मदारी की टोपियाँ लेकर पेड़ पर चढ़ गये, तव मदारी के दिमाग में आया, उसने अपनी टोपी सिर से उतारकर फेंकी, उसी तरह से वन्दरों ने भी फेंकना शुरु किया। तो वन्दरों की तरह नकल करने लगेंगे तो लोक नाम का तत्त्व ही नहीं रहेगा।

प्रश्नः क्या लोक का सव कुछ ग्रहणीय, सरल और सुन्दर है।

त्रिलोचन जीः जैसे डायन किसी को घोषित करके मार डालना- विहार में और राजस्थान में अभी है तो डायनवाले संस्कार जो हैं ये लोक जीवन के विकृत रूप हैं। आपके यहाँ तान्त्रिक नरवलि देता है- छिपकर। किसी के भी वच्चे का हरण कर ले जायेंगे- काट डालेंगे और खून पी जायेंगे। इस तरह की जो तन्त्र साधना कर रहे है उनकी स्वयं वलि दे दी जानी चाहिए। इस तरह की साधना की जरूरत नहीं है। तो अगर इसको लोक में आप रख रहे हैं तो गलत है लेकिन अव जैसे वकरा-उकरा काटना। आप वकरे का माँस खायें ठीक है लेकिन देवी के नाम पर काट रहे हैं आप और जगदम्वा उन्हें कह रहे हैं तो जगत् में तो वकरा भी है न

प्रश्नः यहाँ लोक का फ़ैशन या वाज़ार उछाल पर है, क्या आप इसे लोक की वापिसी मानते हैं?

त्रिलोचन जीः जैसे कुर्ता मैं ज्यादातर पहिनता हूँ और पायजामा कुर्ता- पायजामा भारतीय परिधान नहीं है। भारतीय परिधान अधोवस्त्र था और प्रावरण था- दुप्पटा वगैरह यही पहनते थे और नहीं तो पहनते नहीं थे। सिलने की कला का वर्णन तो वेद मंत्रों में है लेकिन सिले हुए कपड़े पहिनना वहुत अच्छा नहीं माना जाता था। इसलिये मेरी युवावस्था तक वल्कि अव भी कुछ लोग होंगे जो खाने जायेंगे तो विना सिले हुए कपड़े पहन कर जायेंगे। अगर आप कुर्ता पहिने हुए वगल में वैठे हैं तो वे कोशिश करेंगे कि आपसे छू न जायें वे- आप से छूत मान लेंगे वे। तो वहुत सी वातें हों जिनमें सुधार की जरूरत है। कुर्ता तुर्की का है। कुर्ती वनती थी महिलाओं के लिये ओर कमीज महिलाओं के लिए भी। अव तो उनके कोट अलग वनने लगे हैं और तमाम सामान। अव तो वदल गया है लेकिन अगर आप चन्द्रगुप्त पर नाटक कर रहे हैं- गुप्तकाल पर तो चन्द्रगुप्त पर नाटक करने के लिये किसी को पेन्ट पहनाकर पेश कर देंगे। पेन्ट तो भारत में आने के वाद आविष्कृत हुआ है, नहीं तो हौस पहिनते थे पहले। हौस जो था उसके पीछे दो पूंछें लटकती थीं तो सम्पन्न लोगों की वे दो पूंछ उठाकर चलते थे दो वच्चे- दस साल-वारह साल- पन्द्रह साल के। ये पेज व्याय कहे जाते थे। नाटकों में उनके यहाँ आता है। आपके यहाँ तो अगर एक ही अभिनेता आपको मिला है, वड़े आदमी का चरित्र करने के लिये तो पेज व्याय रहेगा ही नहीं और अव तो वो पूंछ वनती भी नहीं- उनके यहाँ भी। लेकिन शेक्सपियर आदि के नाटक आधुनिक नहीं किये गये, उसी तरह से चलता है। पेन्ट जो है पायजामें की नकल में वना- चौड़ी मोहरी का पहले वना फिर वाद में तंग मोहरी वाला भी चला- तो ये है-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और आपके माडल्स जो हैं कपड़े वनाने वाले, कपड़ों की नई डिजाइन वनाने वाले- ये लाखों कमाते हैं- चाहे वे फ्रांस से कमायें, चाहे लन्दन से, चाहे जहाँ से- ये है।

प्रश्नः यहाँ बोली के आधार पर छोटे राज्यों की बात उभर रही है- आप इसे कितना उचित मानते हैं।

त्रिलोचन जीः यह राजनीतिक नेताओं पर ही छोड़ना चाहिए, क्योंकि जनता कुछ कर नहीं सकती। जैसे आपको पढ़ना है आप छत के नीचे पढ़िये, पंखा नहीं है तो पेड़ के नीचे मत पढ़िये, कमरे में ही पढ़िये, छत पूरी गिर जाये और जीवित रह जायें तो जय मनाइये- यही वात चल रही है। अनेक जगह वच्चे मरे हैं और एक जगह तो स्कूल की छत-वत कुछ थी नहीं।

प्रश्नः क्या छोटे राज्यों की अवधारणा में बोली और उसकी संस्कृति का विकास संभव है?

त्रिलोचन जीः अगर वोलियों के आधार पर हो तो मैं कहूँगा कि सागर एक अलग प्रान्त होना चाहिए और छतरपुर, विजावर, पन्ना इन सवका अलग हो। जहाँ वदले भाषा वहीं कहिये कि अलग प्रान्त बनाओ। तव अन्ततोगत्वा ये आयेगा कि शनीचरी में हमारा मकान है और अगर हम फलाने मुहल्ले में आते-जाते हैं तो उसका वीज़ा आदि हमें चाहिए।

देखिये, दो करोड़ से ज्यादा आवादी नहीं है केरल की और केरल में सवकी, अलग-अलग अपनी लायब्रेरी है- एक परिवार में, ये हैं, कि एक किताव आपने खरीदी है, आप मेरे भाई हैं, अव मैं खरीद नहीं पाया तो आपसे मांगकर मैं पढ़ लूंगा और आप एलाऊ करेंगे और फिर वापिस लेंगे- ये केरल का हाल है। तो केरल में वेइमान लोग कम हैं जो आपके यहाँ वहुसंख्य हैं।

मेरा ख्याल है कि लोग अपना-अपना घर भरना चाहते हैं फिर लोग कहेंगे कि विश्वविद्यालय का अलग राज्य वनाइये और सागर नगर अलग रहेगा- है न- इन वातों का तो कोई जवाव नहीं है।

प्रश्नः डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार खड़ी बोली का विकास और प्रसार व्यापारिक पूंजीवाद की अभिव्यक्ति के रूप में हुआ था- क्या इसलिये खड़ी बोली आज विश्व बाजार की आसान शिकार नहीं बन रही है?

त्रिलोचन जीः हमको साधुओं के और व्यापारियों को मान लेना पड़ेगा कि वड़े-वड़े प्रतिष्ठानों की सर्विस में रहे नहीं- तव हिन्दी फैली है। मुगलकाल में भी आपकी हिन्दी से पूरे देश में व्यापार चलता था। उत्तरा पथ से दक्षिणा पथ तक। इन पथों के नाम संस्कृत की पुरानी कितावों में है और जव आना-जाना खतरनाक था, चोर-डाकुओं का भय भी था तो उस हालत में वड़े-वड़े कारवां चलते थे जिसको संस्कृत में सार्थवाह कहा जाता था- सार्थवाहः अर्थ- पैसा, रुपया वगैरह तो पहले आपके यहाँ अदला-वदली का धन्धा था जैसे आप गाय वेचना चाहते हैं तो गाय ले जायें और गाय के वदले जो सामान आपको लेना है, वह ले लें। यह पहले था, अव वो नहीं है। सिक्कों में वह होता है। और सिक्कों के दाम भी वढ़ते-घटते हैं यानी तव आपको 12 रु. में एक पूरा वैल मिल जाता था और वकरों आदि का दाम अधिक से अधिक 8 रु. जाता था, वह भी वड़ी जाति वाले वकरों का, वह भी पुराने न हों, वे वेकार होते हैं तो आज एक वैल खरीदने जाइये तो 4-5 हजार रु. से कम न लगेगा इसका मतलव जो गरीव है वह तो ले नहीं सकता। तो सवाल ये है कि आपके यहाँ मुगलों के समय में कारीगरों को दादनी मिलती थी। दादनी के लिये आधुनिक शब्द हैं 'ग्रान्ट'। तो ग्रान्ट तो लौटानी पड़ती है आपको अनिवार्य है और आप वंधे रहते हैं। दादनी में वंधे नहीं थे। दादनी में आपको फ्रीशिप थी चाहे आप वुनकर हैं, चाहे कोई भी कला करते हैं- चूड़ियाँ वनाते हैं, शीशा बनाते हैं- ये तमाम तो दादनी सरकार की तरफ से मिलती थी और भाई साव लगान आपको कैश में नहीं देना पड़ता था- काइन्ड में जो आपके यहाँ उपजा है, वही देना पड़ता था।

प्रश्नः मार्क्सवादी अवधारणा में- परम्परा इतिहास की यात्रा में मूलतः निषेधात्मक भूमिका अपनाती है। लोक कलायें मूलतः और तत्वतः परम्परा से बंधी हुई कलायें ही हैं- क्या इनकी भूमिका निषेधात्मक है?

त्रिलोचन जीः विधि और निषेध तो सभी धर्मों में है- सभी देशों में हैं- अव जैसे अमेरिका में आप खाने वैठे- छुरी और काँटे को एक खास पोज में न रखेंगे तो वे कहेंगे कि शिष्ट नहीं है। आपके यहाँ तो हाथ से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही खाने की आदत है। वे समझते हैं कि अंगुलियों से खायेंगे तो न जाने कौन-कौन से कीड़े घुस जायेंगे। अगुंलियों में कीड़े होते हैं तो क्या उनमें नहीं होते- काँटे-चम्मच में- तो रोग क्या नहीं होते। इसी तरह से रोग नये-नये हो रहे हैं। आप आधुनिक तव मानें जायेंगे जव आपके यहाँ एड्स के रोगी वढ़ जायें तो क्या आधुनिक होना चाहते हैं।

प्रश्नः हमारी जातीय परम्परा और आधुनिक विकास के वीच जो अन्तर्विरोध है क्या उनसे एक अपसंस्कृति के जनमने का ही ख़तरा है, क्या इससे एक प्रतिसंस्कृति नहीं बन रही है?

त्रिलोचन जीः मैंने वताया न कि हर रीति-रिवाज के साथ विधि भी है और निषेध भी हैं- कुछ वातें करों, कुछ न करो। अव जैसे कटहल न कच्चा खाते हैं जैन, न पका हुआ, दोनों नहीं खायेंगे। आप वड़ी भक्ति से ले जाइये एक जैन मुनि को पका हुआ कटहल तो वह कहेगा कि वच्चा यह क्या लाये हो, ले जाओ इसे।

अव कैसे आपके यहाँ व्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों को ऊँचा कहा गया, शूद्र अस्पृश्य होते हैं ऐसा पुरानी कितावों में तो जिक्र नहीं है और पुरानी कितावें पढ़िये तो आपके यहाँ रसोई आदि का काम शूद्र करता था- परोसने का काम भी आपका था और आये आगुन्तकों को इज्जत वगैरह का। तो मेरा यह कहना है कि जिस देश में इतनी उदारता थी, उसी देश में आर्थिक कारणों से संकीर्णता आयी और यह संकीर्णता इस देश के लिये आज भी घातक है। तो मेरा यह कहना है कि आपको यह मानना चाहिए कि सव मनुष्य समान है।

जैसे आपके यहाँ होटल तो वने हैं लेकिन पीने का पानी जो देते हैं वो उस गिलास में अंगुली से निशान वनाइये- वाहर से तो निशान वनता चला जायेगा। आप होटल में खा सकते हैं, मेरे जैसा आदमी नहीं खा सकता हालांकि मैं एक ईसाई के यहाँ भी खा सकता हूँ, वो तो घर पर तो सफाई से रहते हैं। मुसलमान के यहाँ खा सकते हैं लेकिन एक व्राह्मण के यहाँ उस तरह का हो तो कौन खाना खायेगा, कौन पानी पियेगा। आप ही पानी पीते हैं, दुवारा पानी पीने के लिये मांगे तों हम गिलास को साफ करेंगे- तव देंगे। आपने ही पिया है तो यह नहीं कि आपने पिया है- लीजिये, तो आपके यहाँ सफाई के नियम- अव आप आधुनिक हैं तो कहेंगे कि भाई साव हमने ही पिया तो हमें दो। तो नहीं, उसको जूठा मान लिया जाता है- आपके यहाँ। अच्छा हाँ, दूसरी वात- खाना पीना विना भेद के एक साथ होना चाहिए लेकिन यह नहीं कि आप एक ओर से खा रहे हैं, दूसरी ओर से कुत्ता खा रहा है- यह जीव दया नहीं है- कुत्ते को अलग खिलाइये, खुद अलग खाइये।

माने प्रत्येक व्यक्ति को समाज के लिये उपयोगी होना चाहिए- चाहे नर हो, चाहे नारी। आपके यहाँ महिलाओं का, आज भी पूरे देश में आंकड़े इक्ट्ठे किये जायें तो यह पाया जायेगा कि उनका तीन-चौथाई प्रतिदिन खर्च हो जाता है, रसोई में। तो रसोई में तो ऐसा होना चाहिए कि सव सहायक हों, कम समय लगे ताकि वे कुछ अपना काम करें। देहात की स्त्रियाँ अगर खाली हो जायें तो वे गाली-गलौज से अपना मनोरंजन करती हैं। अव उसको आप कहेंगे कि यह तो वहुत वुरी वात है लेकिन इससे उनकी जानकारी वढ़ती है, आस पास की और पुरानी गढ़ी हुई वातें उभर आती हैं यानी पुराना इतिहास और घर-घर के कच्चे चिट्ठे आ जाते हैं।

प्रश्नः लोक और शास्त्र के बीच कैसा और कितना अर्न्तसम्वन्ध रहा है?

त्रिलोचन जीः शास्त्र की जो वातें ठीक न लगें, उन्हें छोड़ दीजिये, जैसे मनु स्मृति में कान में सीसा डालने वाली वात है। मनु स्मृति में वहुत सी वातें मानने लायक हैं लेकिन वे पूरी की पूरी नहीं चल सकतीं। जैसे राजा या शासक के लिये वहाँ निर्देश है कि अगर छात्र आ रहे हों तो राजा अपनी सवारी छोड़ दे और जव छात्र चले जायें तव राजा अपनी सवारी पर वैठै। आज का राजा जो है यानी एम. पी., एम. एल. ए., वह तो गोली चलवा देगा कि सड़क पर क्यों आये और दो-चार मर जायेंगे तो उसके वाद खेद प्रकट करेगा। उसके खेद से कोई मरा हुआ वच्चा जी नहीं जायेगा- नहीं तों खेद का भी अपना महत्व है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्नः हमारे क्लासिक्स में जिस तरह लोक की आवाजाही है- क्या वैसी ही आवाजाही हमारी समकालीन कविता में है?

त्रिलोचन जीः असल में आधुनिक हिन्दी अभी तक वोलियाँ वोलने वालों को अपना नहीं सकी है और वे भी नहीं अपना सके इसलिये हिन्दी के वड़े-से वड़े कवि और लेखक गाँव की सम्पत्ति नहीं वने हैं। गाँव की विचारात्मक सम्पदा में कवीर, रहीम, तुलसी, जायसी, गिरधर आदि हैं। वहाँ मैथिलीशरण आदि नहीं हैं और जयशंकर प्रसाद आदि का यह हाल है कि एम. ए. करने के वाद गुरु को सौंप देते हैं छात्र और वाद में भूल जाते हैं कि क्या पढ़ा इसलिये साहित्य का जीवन से लगाव तो नहीं है क्योंकि इनकी व्यंजनाओं को लेकर वे किसी से वतियाते भी नहीं जवकि तुलसी और कवीर की वानियों में वात करते हैं और प्रभावशाली वना लेते हैं।

प्रश्नः 'एक पृथ्वी- एक संस्कृति' की कल्पना वैश्विक मनुष्य के सन्दर्भ में की जा रही है जबकि लोक की बुनियाद विविधवर्णी छवियों में है। क्या हमारी यह आधुनिक अवधारणा लोक कलाओं की पहचान के आगे संकट नहीं है?

त्रिलोचन जीः हमारे यहाँ लोक की व्याख्या की जाये तो विभिन्न प्रकृति की भव्य परम्परायें पूरे देश में प्राप्त होती हैं और वे जो आज के वड़े-वड़े राज्य हैं या छोटे- उन राज्यों में भी अनेक हैं और अनेक रंग और रूप की है- इन सवका मिट जाना ही होगा। ये सुरक्षित रहें इससे यहाँ कि जो उच्चतम विद्या आये उसको भी वल मिलता रहेगा इसलिये इन की जो अलग पहचान है वो तो वरकरार रहे लेकिन इन पहचानों को लेकर लड़ने-झगड़ने की वात नहीं हो। जैसे यक्षगंान आदि के अभिनय उत्तर भारत में भी होने लगे हैं और धीरे-धीरे, देखते-देखते लोग समझने और सराहने लगे हैं। यही नहीं उनके नृत्य भी, उनके आहार की प्रक्रिया उत्तर भारत में भी चालू हो गयी है। जैसा डोसा, उत्तमा और तमाम खाद्य पदार्थ उत्तर भारत के छोटे-छोटे कस्वों तक फैल गये हैं। डोसा वनाते हैं लोग- दोसा- जिसको ड्रोसा कहते हैं, इसी तरह से इडली वनाते हैं- उनके मीठे व्यंजन भी वनने लगे हैं तो इससे विविधता आती है और संस्कृति की पहचान वढ़ती है।

छत्तीसगढ़ी के जो नाटक तैयार किये हवीव तनवीर ने, उनका अभिनय यूरोप में भी हुआ और ज़ो हिन्दी नहीं समझते उनमें कुछ को समझाने की व्यवस्था की गयी तो उन्होंने अपनी दृष्टि से देखते हुए कहा कि यह रहनी चाहिए चीज़। तो जव चीज आपके यहाँ ही रहेगी तो वह प्रतिष्ठित कैसे होगी। जैसे हमारे यहाँ करिंगा का करेक्टर- यह अगर व्रज की भूमि पर अभिनीत न किया जाये- दिखाया न जाये तो व्रज वाले क्या समझेंगे कि कैसे यह होता है, और होली के मौके पर कितनी छूट होती है लोगों को कि तीखी से तीखी आलोचना कर सकें और उसका वदला कोई न ले।

प्रश्नः वे कौन से कारण हैं जो लोककलाओं को विश्वव्यापी वना देते हैं? उदाहरण के लिये भारत के लोकांचलों में प्रचलित कथा-कविता पश्चिमी देशों के लोकांचलों में ज्यों की त्यों मिलती हैं जैसे ब्रेख्त के नाटक- 'काकेशियस चाक सर्किल' की कहानी हमारे यहाँ बुन्देलखंड में भी प्रचलित है।

त्रिलोचन जीः यही नहीं, उसने अपने नाटकों में सूत्रधार भी रखा और कहा कि सूत्रधार तो बड़ी नेचुरल चीज है- उसमें नाटक लिखा किसने इसका परिचय आना चाहिए। असल में दो नाटक कम्पनियाँ इस समय सारी दुनिया में चल रही है- एक तो शेक्यपियरियन और दूसरी ब्रेख्तियन। तो ब्रेख्त के नाटकों में यह होता है और सवके नाटकों में नहीं।

अव जैसे अवध के रहने वाले नागर। नागर ने चमारों के नृत्य पर तो एक कहानी भी नही लिखी है। चमारों के नृत्यों में क्या वैरायटी है ये वे क्या जानें लेकिन ये है कि नागर गुजराती भाषी-फ्लूयेन्टली- हिन्दी के लेखक और अच्छे लेखक- तो ये होते हुए- उन्होंने 1857 पर एक किताव लिखी है और घूमे अवध में जितना मिला उसका उपयोग किया। तो मेरा ये कहना है कि आप जहाँ हैं, वहाँ के एक्सपर्ट वनिये। एक्सपर्ट वो होता है जो रखने वाली चीजें रखता है और छोड़ी जाने वाली चीजें छोड़ता भी है- लाख उसके आलोचक हों।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शंपा शाह

'उज्ज्वल नीलमणि'

मणिपुरी भाषा में मिट्टी को लैपाक कहते हैं और प्रजा या जनता के लिये भी यही शब्द प्रयुक्त होता है। नीलमणि देवी वताती हैं कि मणिपुर में लोग अपनी रोज़मर्रा की वोलचाल में अक्सर यह कहते पाये जाते हैं कि आजकल लैपाक में गिरा (गिरावट) आ रही है क्योंकि उसमें मिलावट बहुत है। ज़ाहिर है कि चाहे राष्ट्र का निर्माण हो या मिट्टी के घड़े का निर्माण, दोनों के ही लिये "लैपाक" का कचरा रहित होना ज़रूरी है।

समूचे देश में इक्का-दुक्का समूहों को छोड़कर मणिपुर ही एकमात्र ऐसा राज्य है जहाँ मिट्टी के घड़े आदि वनाने का काम केवल स्त्रियाँ ही करती हैं लिहाज़ा यहाँ इस कला की उत्पत्ति की कथा भी भिन्न स्वरूप में मिलती है। कथा कुछ इस तरह से है-

सतयुग मे मणिपुर राज्य में कोई जीवजन्तु नहीं थे, तव यहाँ रात-दिन सात सूर्य चमका करते थे। यह प्रान्त चारों ओर से पहाड़ियों से घिरा था और उनके मध्य जल ही जल हिलोरे लेता रहता। उसी समय गुरु शिदवा (अनादि भगवान) और गुरु शिदवी स्वर्ग से उतरकर इस जगत की रचना करने के लिये वहाँ आये। पहाड़ को खोदकर उन्होंने उस विशाल जलराशि को वर्मा देश की ओर वहा दिया और स्वयं पहाड़ पर गुफा वनाकर पुत्र प्राप्ति के लिये देवताओं का आवाहन करने लगे। एक दिन आकाशवाणी हुई– "पहाड़ की मिट्टी से एक वड़े घट की रचना करो और फिर उसे घर के उत्तरी मध्य भाग में स्थापित कर सात दिन उसकी पूजा करने से तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी।" सात दिन की पूजा के उपरांत ईमा लेम्रेन शिदवी ने अपने वनाये घट में गुरु सन्नामहि को पुत्र रूप में पाया। व सन्नामहि ने सात में से छह सूर्य तीर से मार गिराये और फिर क्रमशः जल, थल एवं वायु के जीव-जन्तु वनाये और अन्ततः मनुष्य की भी रचना की। अपना कार्य संपन्न हुआ देख गुरु शिदवा-शिदवी अन्तर्धान हो गये एवं ईमा लैम्रेन शिदवी ने जिन्होंने इस सृष्टि की पहली रचना- - यानी कुम्भ का निर्माण किया था वे इस आदि विद्या को पेन्थोईवी या लैमा लैनाउतावी को सौंप गई।

अन्य प्रान्तों की कथाओं में कुम्भकला की उत्पत्ति अक्सर पार्वती-महादेव के व्याह के अवसर पर कुम्भ की आवश्यकता के निमित्त से वताई जाती है। कुम्भ के विना यह आदि व्याह असंभव था इसलिए कछुए या केंचुए के पेट से मिट्टी प्राप्त की गई क्योंकि पृथ्वी तो तव जलमग्न थी। कुम्भ गढ़ने के लिये विष्णु ने कुम्हार को चाक के समक्ष स्वयं अपना सुदर्शन-चक्र दिया, शिव ने उसे घुमाने के लिए डण्डा और व्रम्हा ने कुम्भ को चाक अलग करने के लिये अपना जनेऊ दिया और तव जाकर प्रथम घट की रचना संभव हुई।

प्रथम घट की उत्पत्ति से जुड़ी इन दो कथाओं में यदि महज़ घट की उपयोगिता पर ही गौर करें तो पायेंगे कि मणिपुर में प्रचलित कथा में से उसे ज्यादा महत्वपूर्ण न सही पर ज़्यादा जिम्मेदारी भरा, वात्सल्यमयी काम करना है- उसे माँ के समान गर्भ धारण करने का सा जोखिमभरा काम करना है और वह भी एक ऐसे शिशु को धारण करने का जो फिर समूचे जीवजगत की रचना करेगा। घट के भीतर किसी शिशु के जन्म लेने की कल्पना के साथ ही घट के वेडौल, खुरदुरे या कुरुप आदि होने की संभावना ही खत्म हो जाती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन में नीलमणि देवी के बनाये चौड़े मुख और वृहद आकार के मांसल, लगभग लोचदार नज़र आते पात्र की छवि उभरेगी जिसका दायरा माँ के गर्भ की तरह हर पल वढ़ता और वढ़ता सा लगता है।

नीलमणि देवी के हाथों वना हर घट शायद सन्नामही के जन्म लेने के लिये ही वना है। वर्ना महज पानी या सूखी मछली या अनाज भर कर रखने के लिये घट को वाहर भीतर से इतना घिस-घिसकर चिकना करने की क्या ज़रूरत है? चिकने और सुडौल वर्तन तो खैर चाक पर भी बनाये जा सकते हैं पर नीलमणि देवी के घट में जो मांसलता व गर्माहट है वह अन्यत्र संभव नहीं। चाहे वे घट की सुकुमार ग्रीवा बना रही हो या पीट-पीट कर उसका आयतन वढ़ा रही हो या उसकी त्वचा की कांगखिल नामक पेड़ के वीच से मालिश कर रही हो, उनके हाथों की गति एक ही साथ इतनी द्रुत- सहज और छन्दमय होती है कि उनके हाथों की हर माँसपेशी को आप उनके वनाये घट पर स्पंदित होता महसूस करेंगे।

घट का गर्भ के रूप में और फिर उसमें से शिशु के जन्म की अवधारणा कई लोक कथाओं में मिलती है। ऋग्वेद में अगस्त्य मुनि के कुम्भ में जन्म लेने अतः कुम्भज या कुम्भसंभव कहलाने का ज़िक्र है; महाभारत की एक लोक अवधारणा जिसे पीटर ब्रूक ने अपनी फिल्म में लिया है में गाँधारी दो साल तक गर्भ में धारण करने के वाद एक जड़ माँस के गोले को जन्म देती है जिसे फिर व्यास के आग्रह पर सौ टुकड़ों में विभक्त कर मिट्टी के मटकों में रखती है और फिर इनसे सौ पुत्रों को प्राप्त करती है, सीता यूँ पृथ्वी के गर्भ से पैदा हुई पर विहार की मधुवनी चित्रशैली में इन्हें धरती से निकले एक घट के भीतर जन्मा हुआ ही चित्रित किया जाता है। टेस्ट ट्यूव वेवीज़ के वरक्स पाट वेवीज़ का यह विचार खासा रोचक है।

यदि कुम्भकला की उत्पत्ति की इन दो कहानियों में घट के निर्माण की पद्धति पर गौर करें तव भी ईमा लैगरेन शिदवी द्वारा वनाया गया घट और लगभग आज भी उसी तरह विना चाक के, हाथ के कुशल संचालन से मणिपुरी स्त्रियों द्वारा वनाये जाने वाले घट की रचनाप्रक्रिया ज्यादा प्राचीन है। पुरातात्विक सर्वेक्षणों से यह ज्ञात है कि चाक के आविष्कार के वहुत पहले से मिट्टी के पात्र गढ़े जाने का चलन था।

मणिपुर में थाउवल जिले के चैयरान, शौंगमई एवं थोंगजाओ गाँवों में एवं इम्फाल जिले के आंद्रो गाँव में मिट्टी का काम होता है पर थोंगजाओं नामक गाँव में, जहाँ की नीलमणि देवी रहनेवाली हैं, उस पर देवी पेन्थोईवी की विशेष कृपा है। यह गाँव अच्छी मिट्टी और परोक्षतः अच्छी कुम्हारिनों का गाँव है। नीलमणि देवी कहती हैं- हमारे गाँव में जहाँ भी जमीन खोदो वहीं अच्छी मिट्टी का विल- लईखुन मिलेगा। यहाँ लगभग 150 घरों में स्त्रियाँ मिट्टी का काम करती हैं और इनके काम की इम्फाल के वाजार में वहुत माँग है। यह पूछे जाने पर कि इम्फाल के वाजार में जहाँ सैंकड़ों मटके बिकने के लिये आते हैं क्या वे अपने वनाये हुए घट को पहचान सकती हैं? नीलमणि देवी बहुत ही सहज सामान्य लहजे में वोलीं- "मेरे बताने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी क्योंकि ज्यादातर लोग (खरीददार) वर्तन देखकर ही वता देते हैं कि यह नीलमणि के वनाये हुए हैं और वे थोड़े ज्यादा दाम पर भी मेरा सामान खरीदते हैं क्योंकि उन्हें पता है कि उसे बनाने में बहुत मेहनत लगी है। छोटी थी तभी से मेरा काम दूसरों की अपेक्षा ज्यादा कीमत का विकता था क्योंकि बाकी लोग वर्तन को इतना घिसते-चमकाते नहीं हैं।" वे आगे बोलीं - -"मैं अपने वनाये घट को विना देखे सिर्फ उसकी भीतरी सतह को छूकर पहचान सकती हूँ। भीतर हाथ फेरकर ही पता चलता है कि घट की दीवार एक सी मोटी पतली है या नहीं और फिर अन्दर की सफाई-मँजाई पर वहुत कम लोग ध्यान देते हैं।" मुझे घोर आश्चर्य हुआ क्योंकि दुनिया के दूसरे कोने मैक्सिको की प्रसिद्ध रेड इंडियन पॉटर मारिया मार्टिनेज़ जो लगभग नीलमणि देवी की पद्धति से ही कुम्भ वनाया करती थीं, उनसे जव यह प्रश्न किया गया था तो उन्होंने भी शव्दशः यही जवाव दिया था। ★

★ मारिया- रिचर्ड. एल. स्पाइयी द्वारा लिखित पुस्तक में।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह जानना कितना सुखद है कि नीलमणि देवी को उन्हीं के लोगों द्वारा अतिविशिष्ट कुम्भकार का सम्मान वहुत पहले से प्राप्त था जिसे वाद मे भारत सरकार ने भी स्वीकारा और 1992 में उन्हें राष्ट्रपति द्वारा मास्टर क्राफ्ट्सवूमन के पुरस्कार से और उसी वर्ष म. प्र. सरकार द्वारा तुलसी सम्मान से सम्मानित किया गया।

नीलमणि देवी ने मिट्टी के वर्तन वनाने का काम अपनी माँ से सीखा। यूँ तो उनकी माँ और गाँव की तमाम अन्य स्त्रियाँ भी मटके की सतह को ठीक करने के लिये सीप एवं काँगखिल के वीज का प्रयोग करती थीं (काँगखिल का वीज, इमली के समान किन्तु आकार में उससे कई गुना वड़ा होता है।) लेकिन वालिका नीलमणि ने अपने वनाये घड़े को एक वार इतना चमकाया कि वह काँग के वीज की तरह चमकने लगा। माँ भी हतप्रभ रह गई और सवको वुलाकर वह घट दिखाया। वो दिन है और आज का दिन, नीलमणि के घड़ों की चमक लगातार वढ़ती ही गई है। 1958 में सरकार ने मणीपुर कुटीर उद्योग खोला और उसके निदेशक ने वालिका नीलमणि की लगन को देख उसे मिट्टी के काम की वेहतर ट्रेनिंग हेतु एक वर्ष के लिये पटना भेजा। इस ट्रेनिंग के लिये देश भर से चुने गये कुम्हारों में नीलमणि अकेली लड़की थी। नीलमणि की रहने खाने की सुविधा विहार की उन वाल विधवाओं के साथ की गई जिन्हें सरकार सूत कातने, चरखा चलाने की ट्रेनिंग दे रही थी। सोना, फूलविद्यार्थी, लालतीदेवी, चम्पा, यह तमाम लड़कियाँ नीलमणि देवी को आज भी याद आती हैं। कितने वर्ष वीत गये, तव अवोध नीलमणि ने विहार की अपनी उन सहेलियों के विधवा अकेले जीवन को देख उन सवसे मणिपुर चलने के लिये कहा था- "जहाँ सवको अच्छे पति मिल जायेंगे!" कुछ ही दिनों में नीलमणि अपने गुरु की प्रिय शिष्या हो गई। वहाँ उन्होंने प्लास्टर के मोल्ड वनाना, लेकरिंग तथा चाक पर वर्तन वनाना सीखा। चाक पर काम करना उन्हें असुविधाजनक लगता, कई वार पैर में चोट भी आई। ट्रेनिंग के लिये नियुक्त किये गये गुरुजी ने उनसे कहा कि तुम्हें चाक पर काम करने की जरूरत की क्या है, तुम तो उसके विना ही सवसे गोल वर्तन वनांती हो। ट्रेनिंग से लौटने पर 1961 में उन्हें मणिपुर इण्डस्ट्रीज में पॉटरी प्रशिक्षक नियुक्त किया गया। इसी वर्ष उनका व्याह श्री श्यामजयसिंह से हुआ जो हिन्दी के अध्यापक हैं। सात साल तक लड़कियों को प्रशिक्षण देने के वाद उन्होंने नौकरी छोड़ दी और पूरी तरह से घर पर ही काम करने लगीं। सन् नवासी में वे पहली वार दिल्ली क्राफ्ट्स म्युजियम आई और इसके वाद उनके काम को खरीदने, पसंद करनेवालों का एक ज्यादा व्यापक घेरा वना जो दिन पर दिन विस्तृत होता जा रहा है।

चाक की अनुपस्थिति में मिट्टी के नाना प्रकार के पात्र गढ़ने की मणिपुरी औरतों की शैली अनूठी है। अच्छी तरह गूँथी हुई मिट्टी से वनने वाले वर्तन के आकार को ध्यान में रखते हुए एक मोटी वत्ती वनाकर, फिर उसे हथेली से चपटा कर एक लम्वा स्लैव तैयार हो जाता है। इस प्रक्रिया को लैपाक नोएवा कहते हैं। फिर इसे मोड़ पर सिलिण्डर का आकार मिल जाता है, इसे चप्फू होउवा कहते हैं। सिलिण्डर के नीचे मिट्टी की गोल चपाती वनाकर पेंदा वनाया जाता है इसे मथुल हापा कहते हैं। अव इस सिलिण्डर नुमा पात्र को लकड़ी के स्टूल-लेक्सुम पर रख कुम्हार मोटे पर मुलायम कपड़े की चौड़ी पट्टी- फूनान फददी को पानी में भिगोकर पात्र के ऊपरी खुले मुँह पर लपेटकर दवाते हुए स्वयं वर्तन के इर्द-गिर्द चाक की तरह घूमता है पहले उल्टी दिशा में और वाद में घड़ी की सुई की दिशा में। इस प्रक्रिया को मपान नानवा कहते हैं। जिससे घट की गर्दन एवं मुँह तैयार हो जाते हैं। घट के इस ऊपरी भाग के थोड़ा सूख जाने पर उसे लकड़ी के पीटने-पूजई और पत्थर नूङ की सहायता से पीट पीटकर वड़ा करते हैं। वर्तन के भीतरी भाग की सीप या कोंग्रेन से सफाई करते हैं और ऊपरी भाग को वीज या चिकने पत्थर की सहायता से घिस घिसकर चमकाया जाता है।

नीलमणि देवी को काम करते हुए यदि आप कभी लम्वे समय तक देखेंगे तो पायेंगे कि वे अक्सर अपने वनाये आधे-अधूरे मटकों को जो अभी वनने के विभिन्न स्तरों पर हैं, पकाये जाने हैं, उन्हें ध्यानमग्न सी देखती हुई मिलती हैं। मैंने जव पूछा कि यूँ देखते हुए वे क्या सोचती रहती हैं, तो वोलीं- "यह काम तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसा है कि आदमी पागल सा हो जाता है, रात में सोती हूँ तो नींद में भी यही दिखता है कि पकने पर उसका रंग कैसा आयेगा, घर के इतने काम इतनी चिन्ताएँ रहती हैं लेकिन जितना ध्यान इनका रहता है उतना तो घर का भी नहीं रहता।'' वेशक इससे उनके घरवालों को परेशानी होती होगी लेकिन नीलमणि देवी के मटकों का जो सहज सौन्दर्य है वह कलाकार और कृति के वीच इस अनवरत अवाधित वार्तालाप के चलते ही संभव है। आमतौर पर लोग जीवन में यही संवंध अपने किसी प्रियजन या किसी स्थूल संपदा से जोड़ते हैं, वे भी दिन रात इसी प्रियजन के वारे में ही सोचते रहते हैं लेकिन फिर इस प्रेम के चलते ही वे अपनी इच्छायें, अपने विचार दूसरे पर थोपने लगते हैं। यहीं आकर नीलमणि का अपने मर्तवानों से रिश्ता इन दूसरे रिश्तों से भिन्न हो जाता है। उनके वनाये घट में कुछ भी आरोपित नहीं लगता। जितने भी आकार वे वनाती हैं वे इतने सहज जान पड़ते हैं जितने कि पेड़ पर लटकते फल। जब इनकी संरचना वेढव या युक्तिसंगत नहीं लगती जैसे कि एक पतले कोमल डंठल से लटकती वड़ी लौकी या कद्दू, तव भी यह वात स्पष्ट होती है कि लौकी का आकार जो है उससे कुछ और नहीं हो सकता। नीलमणि देवी के वनाये पात्रों की फलों से तुलना महज़ मेरी हवाई कल्पना नहीं है। मणिपुर में कुम्हारों के वीच यह कथा प्रचलित है कि राजा नोदां लाईरेन पार्खव के समय तक मणिपुर में औरतें पेन्थोइवी की दी गई विद्या भूल चुकी थीं और वहुत भद्दे विना आकार के वर्तन वनाने लगीं थीं। वे गीली मिट्टी का गोला लेती और उसमें अपनी कोहनी घुसाकर गड्ढा कर लेती और यही उनका वर्तन होता। राजा ने नुरा खोंदोले नामक पेड़ का फल कुम्हारिनों को दे आदेश दिया कि वे इस फल जैसा सुन्दर घट वनाये और तव से धीरे-धीरे मणिपुर की कुम्हार फिर से सुघड़ वर्तन वनाने लगीं। इन घट के आकारों में कोई जटिलता का अनुभव शायद इसलिए भी नहीं होता क्योंकि ये रोज़ उपयोग के लिये वने हैं, इनकी उपयोगिता ही इनके आकारों को जन्म देती हैं। इस दृष्टि से पॉटरी और आर्किटेक्चर में खासा साम्य है, दोनों का ही मुख्य उद्देश्य उनकी उपयोगिता है लेकिन चूँकि वे मनुष्य जीवन का अनिवार्य हिस्सा है इसलिये उपयोगिता सौन्दर्यवोध के वीच संतुलन वनाये रख पाना इन दोनों ही विधाओं के लिए चुनौती है। नीलमणि देवी के वनाये पॉट्स को ही लें- - वे कहीं भी रखें हों, अपने में संपूर्ण तन्मय से, अपने अस्तित्व को ज़रा भी ज़ाहिर करने की कोशिश न करते हुए नज़र आते हैं वे अपने सौन्दर्य से आप पर हमला नहीं करते, चौंकाते नहीं हैं वल्कि अपनी सरलता से आपको भी सहज महसूस करवाते हैं। प्रश्न उठता है कि फिर क्या है इस कलाकार के वनाये इन घरेलू पात्रों में जो इन्हें और इनके रचयिता को विलक्षण वनाता है? नीलमणि देवी के वनाये घट को देख मुझे लोक में प्रचलित वह कथा स्मरण हो आती है जिसमें एक कलाप्रेमी राजा के दरवार में दो वहुत नामी चित्रकार अपनी कला के प्रदर्शन के लिए उपस्थित हुए। दोनों को एक कमरे की आमने-सामने वाली दीवारें दी गई ताकि उनका मूल्यांकन सही तरह से किया जा सके। उनमें से एक कलाकार ने तुरंत ही रंग-कूची उठा काम शुरू कर दिया जवकि दूसरा दीवार की सतह को घिस-घिसकर चित्रित करने के लिए तैयार करता रहा। एक माह वाद राजा सभी दरवारियों के साथ कलाकारों का काम देखने आये। पहले चित्र को देख सभी ने कहा कि ऐसा सुन्दर चित्र उन्होंने पहले कभी नहीं देखा। अव दूसरे चित्रकार की वारी थी, पर्दा हटाया गया तो सभी दंग रह गये, हूवहू वही चित्र यहाँ भी था पर उससे कई गुना ज़्यादा चमक और ओज़ लिये हुए।

यह कहा जाता है कि कलाकार के लिये यह कामना सवसे ज़रूरी है कि उसे रूकना कहाँ हैं, यानी जो अपनी संवेदना, अपनी कला को किफायत से वरते, उसका अतिरेक न करें।

नीलमणि देवी के वनाये ये विलक्षण पात्र इस कसौटी पर भी खरे उतरते हैं। इनकी विलक्षणता इन्हें पकाने के दौरान छोटी वड़ी लपट, धुएँ, तेज़ या धीमी आँच आदि से घट की सतह पर वनने वाले चिन्हों का कलाकार द्वारा कुछ हद तक नियंत्रित वे ऐच्छिक प्रयोग भी है। यूँ हमारे यहाँ सभी प्रान्तों में पकाने के वाद लाल रंग के मटकों के अलावा धुँए की मदद से संपूर्ण काले मटके वनाने की पद्धति भी है तथा हर भट्टी में कुछ ऐसे भी वर्तन निकलते हैं जिन पर कहीं-कहीं काले धव्वे रह जाते हैं पर अक्सर सभी कुम्हारों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को आग व धुंए से बने ये चित्र धव्वे ही नज़र आते हैं साथ ही लोक में किसी भी मांगलिक अवसर पर काले या किसी तरह के दाग वाला कलश अशुभ माना जाता है। पर कुछ आधुनिक यूरोपीय सिरेमिक कलाकारों की तरह नीलमणि देवी को अपने वर्तनों पर आग-धुंए के इस खेल ने आकर्षित किया, वे उसे गौर से देखने समझने की कोशिश करने लगीं, और यह सिलसिला आज भी जारी है। पर अव इस खेल में स्वयं नीलमणि देवी भी एक खिलाड़ी हैं। पॉट की घिसाई (वर्निशिंग) करते वक्त या कई वार तो वनाते हुए ही उनके सामने उसका संपूर्ण चित्र उपस्थित होता है- धुंए के वीच से आग की लपलपाती कौंध या फिर आग से निखरे घट के सुनहरे फलक पर धुंए का सिर्फ एक गोल तिलक।

धुंए एवं लपटों को आंशिक रूप से किसी निश्चित जगह पर स्थगित करने के लिये वे उपले व लकड़ी के छोटे टुकड़ों की घट की सतह पर जमावट को एक हद तक डिज़ाइन करती हैं। जहाँ काले चिन्ह चाहिये हों उन हिस्सों पर उपले के टुकड़े रख उसे ठीकरे से ढँक दिया जाता है। आग के रास्ते में भी इसी तरह रूकावटें पैदा कर घुमाया फिराया जा सकता है।

इनके साथ काम करते हुए, इन्हें काम करते देखते हुए यह अहसास हुआ कि जिन कलाकारों की अपनी परंपरा में गहरी पैठ है उन्हीं का काम अपनी अलग पहचान भी रखता है। इसके ज़रिये परम्परा जैसे अपनी भीतर से ही अपने वजूद, अपने होने को चुनौती देती है। इन कलाकारों की यह विशिष्ट पहचान परम्परा को नई पहचान देती है या यूँ कहें कि इन कलाकारों के जरिये परम्परा अपने को "नया" करती है, नई स्फूर्ति के साथ पुर्नजन्म लेती है। परंपरा और उसके ही भीतर से उसे चुनौती देने वाले कलाकारों के वीच परावलम्वी रिश्ता है (सिमवायोटिक रिलेशन) किसी भी एक के कमज़ोर पड़ने से दूसरे के अस्तित्व को ही खतरा है। लेकिन चक्रव्यूह को तोड़ने के लिये पहले यह जरूरी है कि उसके अंतिम घेरे तक घुसा जाय। महज़ कुछ नया करने के लिये, चौंकाने के लिये किया गया काम वड़ी इकहरी चुनौती ही खड़ा करेगा।

पारंपरिक कुम्हार होने का अर्थ केवल यह नहीं है कि वह आज भी उसी तकनीक, उसी शैली के वर्तन गढ़ रही है, जिसमें आज से सौ- पाँच सौ वर्ष पहले गढ़े जाते थे वल्कि शायद यह है कि वह अपने में, अपने काम में पाँच सौ वर्ष की स्मृति संजोये हुए हैं। इन पाँच सौ सालों में उस शैली में जिन हजारों लोगों ने काम किया होगा वह उन सब के हस्ताक्षर का वही खाता है। नीलमणि देवी द्वारा सुनाया गया यह गीत जिसमें कई हजार वर्षों में तराशी गई जीवन दृष्टि की गूँज सुनाई देती है मेरी वात को और स्पष्ट करेगा।

"पक्षी लौटने पर नहीं पहचानता उस डाल को
जहाँ पहले भी वैठा किया था कभी- - -
घड़े के टुकड़े फिर लौटते हैं मिट्टी में
पर कव चिन्ह पाते हैं उसे - - अपनी जननी को?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तिकाव्य : एक दृष्टि

भक्तिकाव्य में विवेकी गुरु का महत्त्व है, और लगभग सभी भक्तकवि, गुरु, संत, सत्संगति को ज्ञान का प्रवेश द्वार मानते हैं। यह गुरु परिभाषित है- आलोकदाता, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला है, विद्याव्यापारी नहीं। कवीर में गुरु सर्वोपरि स्थान पर हैं, गोविन्द से भी ऊपर और जायसी की कथा का सूत्रधार हीरामन सुग्गा है। सूर में गुरु नैपथ्य में चले गए हैं और जो ज्ञान गर्व वाले उद्धव आए, वे अधूरे हैं। वहां कृष्ण ही गुरु, सखा हैं, सव कुछ वही है: व्रजजन सकल स्याम व्रतधारी तुलसी ने मानस के आरंभ में ही स्वीकार किया कि गुरु के स्मरण मात्र से दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है, विवेक-नेत्र निर्मल होते हैं। मीरा ने रैदास को गुरु रूप स्वीकारा, संतों का साथ किया। भक्तिकाव्य जटाजूट धारी गुरुडम से अपनी रक्षा करता है और यह स्थापना भी कि आरंभिक कर्त्तव्य-पालन के वाद गुरु को दृश्य से हट जाना चाहिए ताकि सव अपने-अपने पथ का संधान कर सकें। संस्कृति का इतिहास इसी प्रकार अग्रसर होता है, प्रतिवाद से नया मार्ग बनाते हुए। नयी संस्कृति रचते हुए जिसे भक्तिकाव्य की आध्यात्मिकता कहा जाता है, वह उच्चतर मानवीय संकल्पना की अवधारणा है, जहां मनुष्य उच्चतम धरातल प्राप्त कर सकता है।

भक्तिकाव्य को धार्मिक आन्दोलन कहकर सम्वोधित नहीं किया जा सकता और इस दृष्टि से विश्व के धार्मिक प्रयत्नों से उसकी प्रकृति भिन्न है, गन्तव्य भी पृथक है। धार्मिक सुधार के जो प्रयत्न होते रहे हैं, उनमें पुनरुत्थानवादी भाव यह कि कर्मकाण्ड पुरोहितवाद के साथ धर्म-सम्प्रदाय बने रहें, आंशिक परिवर्तन के साथ। पर यह समस्या का समाधान नहीं है, इसलिए इसकी उपादेयता भी संदेहास्पद। भक्तिकाव्य के मध्यकालीन राजनीतिक सामाजिक परिदृश्य को देखें, तो पंड़ित वर्ग में वौद्धिक सक्रियता तो थोड़ी वहुत है, पर समाज में परिवर्तन की कोई संगठित इच्छा दिखाई नहीं देती, छुट-पुट स्वर भर सुनाई देते हैं। ऐसे में भक्तिकाव्य को एक सांस्कृतिक हस्तक्षेप के रूप में अधिक देखा जाना चाहिए जिसका एक प्रतिरोधी स्वर है। सचाई तो यह है कि सार्थक रचनाएं अपने ढंग से प्रतिपक्ष की भूमिका का निर्वाह करती है, कहीं स्वर वहुत मुखर होता है, कहीं संयत-शालीन। भक्तिकाव्य को नीचे से ऊपर की ओर अग्रसर होने वाले आन्दोलन के रूप में देखा जाना चाहिए, जिसमें सामान्य वर्ग और साधारण यहां तक कि निम्न कही जाने वाले विरादरियों की साझेदारी है। इसके पूर्व वैष्णवाचार्यों की जो वौद्धिक सक्रियता थी, उसमें प्रयत्न यह कि दार्शनिक व्याख्या अन्तःसलिल होकर रचना में प्रवेश करे। भक्तिकाव्य ने शास्त्रीयता के इस अवरोध को पार किया और लोकजीवन से सम्पृक्ति का महत्वपूर्ण कार्य किया। इस सन्दर्भ में अध्यात्म-रहस्यवाद के साथ लौकिक-अलौकिक का प्रश्न भी उठाया जाता है। रचना में अलौकिकता का स्वरूप क्या होगा, भक्तिकाव्य में यह विचारणीय प्रश्न है। परम सत्ता की उपस्थिति है, चाहे निर्गुण हो अथवा सगुण और वह अनुभूति का क्षेत्र है, कई वार वर्णनातीत। यह प्रश्न का दार्शनिक पक्ष है, पर कविता दर्शन अथवा विचार का अविकल अनुवाद नहीं है। ऐसी स्थिति में भक्तिकाव्य के समक्ष यह चुनौती भी कि गाथा- संसार का कविता में उपयोग करते हुए, इस द्वन्द को पार कैसे किया जाय? यदि उसका चमत्कारी पक्ष है, तो भी लोकजीवन में प्रवाहित होकर, चरित्र एक विंदु पर अपनी असाधारणता खो दे, सामान्यीकृत हो जाय- चरित्र के धरातल पर। इसी के साथ यह भी कि वह अपने समग्र व्यक्तित्व में साधारणता के वीच असाधारणता का वोध करा सके। वहीं यह कार्य मानवीय क्रिया कलाप के माध्यम से होता है। और कहीं प्रतीकात्मकता से। जायसी के संदर्भ में प्रायः कहा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाता है कि उनमें लौकिकता से अलौकिकता के संकेत हैं। पर कविता में अलौकिकता मानवीय मृत्य संसार के भीतर से निसृत होकर ही विश्वसनीय वनती है। धार्मिक रचना और भक्तिकाव्य में यही मूल अंतर है क्योंकि दोनों के मार्ग भिन्न है। धार्मिकता की दृष्टि असाधारणता पर रहती है, पर कविता सहज-साधारण के माध्यम से विराट का वोध कराती है। पदमावती को यदि पारसमणि के रूप में न भी देखा जाय, तो भी वह अनिंद्य सौन्दर्य की रूपवती नारी है, सहज भाव से हंसती है तो: तहं तहं छिटकि जोति परगसी। उदात्तचरित्र निर्मित करते हुए, भक्तकवि उन्हें अपने समय के नये प्रतिमान का रूप भी देना चाहते हैं, इसे भी ध्यान में रखना होगा। लौकिक से अलौकिक, साधारण से असाधारण के संकेत में कवि की सर्जनात्मक कल्पना के साथ, उनकी यह अभीप्सा भी कि समय का वेहतर विकल्प खोजा जाय।

भक्तिकाव्य में विरोधाभास तथा अन्तर्विरोधों की चर्चा भी की गई है, पर इसे समय की सीमाओं के रूप में देखना होगा। भक्तकवियों ने एक कठिन समय में रचना-कर्म का निर्वाह किया, क्या यह सराहनीय नहीं है? यह भी उल्लेखनीय कि उन्होंने कई सीमाएं पार की, और स्वयं को जनान्दोलन से सम्वद्ध किया तथा रचना-स्तर पर उसे गति देने का प्रयास भी किया। इस दृष्टि से उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका निश्चित ही उल्लेखनीय है। 'भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य' में मैनेजर पांडेय इस अवदान को स्वीकारते हैं: 'भक्ति आन्दोलन जनसंस्कृति के अपूर्व उत्कर्ष का अखिल भारतीय आन्दोलन है। ऐसे आन्दोलन में अनेक स्वरों का समावेश कोई आश्चर्य की वात नहीं है। जो आन्दोलन समाज के विभिन्न वर्गों, उपवर्गों और समुदायों के जीवन की वास्तविकताओं तथा आकांक्षाओं से जुड़ा हो उसमें अनेक संवादी और विसंवादी स्वरों का सहज अस्तित्व स्वाभाविक ही है। यह स्थिति हिन्दी ही नहीं, दूसरी भारतीय भाषाओं के भक्तिकाव्य में भी दिखाई देती हैं (पृ. 45)। आश्चर्यजनक यह कि जिस भक्तिकाव्य को प्रपत्ति समर्पण की पृष्ठभूमि में देखा जाता है, उसमें ललकार का स्वर भी उनके समाजदर्शन को तेजस्विता देता है। यह चुनौती कई स्तरों पर है और अलग-अलग रीति-नीति से। कवीर वाजार में खड़े हैं, हाथ में लुकाठी लिए और सवको फटकारते चलते हैं। अपने समय से इतने असन्तुष्ट कि आक्रोश व्यंग्य का रूप धारण करता है और भाषा ऐसी दो टूक कि सुनने वाला लिलमिला जाय। पर कवीर इसी नकारात्मकता में रूक जाते, तो उनके संवदेन की उदात्तता का चित्र एक प्रकंर से अपूर्ण रह जाता। उनका आक्रोश परिवर्तन कामी है, और विक्षोभ को सकारात्मक दिशा देते हुए, विकल्प का संकेत करता है। मध्यकालीन कृषि शब्दावली का प्रयोग करते हुए लंवे पद में वे कहते हैं: अव न वसूं इहिं गांउ गुसाई। यहां शरीर ही गांव है, जो इन्द्रिय नियंत्रित है। कठोर कर्मचारी, खोटा मुखिया, भयंकर लगान वसूलने वाला आदि। इसकी एक ध्वनि विकृत व्यवस्था को लेकर है, दूसरी का सम्वध मूल्यचिन्ता से है और दोनों अर्न्तभुक्त है। खंड-खंड देखने की प्रक्रिया सही नहीं होती, इसका उल्लेख किया जा चुका है। विरोधाभासों पर टिप्पणी कहीं भी की जा सकती है, पर यह सर्वविदित तथ्य है कि समय की सीमाएं होती हैं। भक्तिकाव्य का आत्मसंघर्ष तो विचारणीय है ही क्योंकि वे राजाश्रय के मुखापेक्षी नहीं थे, किसी अर्थ में धार से विपरीत दिशा में चलने का साहस कर रहे थे, पर उनके आत्मालोचन की ओर भी ध्यान जाना चाहिए। यह आलोचना-दृष्टि स्वयं से आरंभ होती है, विनय-दैन्य के माध्यम से स्वयं को दीन-हीन कहने का प्रयोजन आरोपित विवश विनय नहीं है, उसमें सव सम्मिलित हैं ही, पर इस विवशता को लांघकर ही वृहत्तर लोक में पहुँचा जा सकता है। नाम कोई भी दे, अतिक्रमण से लेकर आत्मविस्तार, सामाजीकरण तक, पर भक्तिकाव्य ने अवरोध पार किए, इसे स्वीकार करना होगा। देवत्व, शास्त्रीयता, पण्डिताई, देवभाषा, आदि के प्रचलित मार्ग के स्थान पर उन्होंने नये पथ का संधान किया। सूर को कृष्ण तक सीमित कर दिया जाता है, पर उनके प्रार्थना पद इस दृष्टि से विचारणीय हैं कि समय से उनकी सहमति नहीं दिखाई देती, जो स्थिति कवीर, तुलसी में वहुत स्पष्ट है। सूर के एक पद में अनेक विकार-वोधक शब्द एक साथ आए हैं, समय की दुर्दशा दर्शाते(186)। उसके पहले एक लंवा पद है, जिसमें ग्राम-जीवन की शब्दावली के माध्यम से मध्यकाल की मूल्यहीनता विम्वित है (186):

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रभु जू यों कीन्हीं हम खेती
वंजर भूमि, गाउं हर जोतें, अरु जैती की तैती
काम क्रोध दोउ वैल वली मिलि, रज- तामस सव कीन्हीं
अति कुवुद्ध मन हांकन हारे, माया जूआ दीन्हों
इंद्रिय मूल-किसान, महातृन-अग्रज-वीज वई
जन्म-जन्म की विषय-वासना, उपजत लता नई
पंच प्रजा अति प्रवल वली मिलि, मन-विधान जो कीनो
अधिकारी जम लेखा मांगे, तातें हो आधीनो।

★ ★ ★

अहंकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत वही
लागे धरम वतावै अधरम, वाकी सवै रही

भक्तिकाव्य के संदर्भ में जिस लोकजीवन की अभिव्यक्ति कई प्रकार से की जाती है, कई नाम देकर,उसका कला-शिल्प पक्ष विचारणीय है, पर वह स्वतंत्र विवेचन का विषय है। उल्लेखनीय यह कि भक्तिकाल ने शास्त्रीयता- पंडिताई के स्थान पर ज्ञान संवेदन-पथ का चयन किया, जिसे व्यापक समुदाय की स्वीकृति मिली। पर यह प्रयत्न अपूर्ण ही रह जाता, यदि कवियों ने देवभाषा के स्थान पर 'देसी भाषा' का चयन न किया होता। मराठी में अभंग रचे गए, असम में शंकर देव ने, वंगाल में चैतन्य-चंडीदास ने अपनी भाषा को अपनाया, जिससे पूर्वांचल प्रभावित हुआ। हिन्दी में व्रज-अवधी में भक्तिकाव्य की प्रमुख सक्रियता है पर मैथिली में विद्यापति, राजस्थानी में मीरावाई भी है। भक्तिकाव्य ने अपना मुहावरा लोकजीवन से प्राप्त किया, इसलिए जो आशय समाज-दर्शन के रूप में वह लोगों तक पहुँचाना चाहता था, उसमें सफलता मिली। यहां न अभिव्यक्ति का संकट है, न प्रेषणीयता का, विशेषतया उस अर्थ में, जिस रूप में आज प्रयुक्त किया जाता है। आभिजात्य को तोड़ती, सहज भाषा को पाने का प्रयत्न तो यहां है, पर उसे सरल-सपाट नहीं कहा जा सकता। कविता सपाटे में संभव भी नहीं है, वह रूककर सोचने को वाध्य भी करती है। क्योंकि भावावेश के सहारे नहीं चलती। जीवन-जगत को जिस रूप में देखा समझा गया है, उसी रूप में पाठक तक उसे पहुँचा सकने का कार्य स्वयं में चुनौती-भरा है, जौखिम का भी, जिसके लिए मुक्तिवोध ने गढ़-मठ तोड़ने की वात तक की है। इस दिशा में सवसे अधिक खतरा उठाया, कवीर ने, जिनके पास अनुभव की पूंजी थी और व्यंग्य के मूल में भी एक सदाशयी मानवीय दृष्टि, जिसके अभाव में रचनाएं चीत्कार-फूत्कार वनकर रह जाती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जव कवीर को 'वाणी का डिक्टेटर' कहते हैं तव उनका आशय यही ह कि वे अपना मन्तव्य समाज तक पहुंचाना चाहते हैं और इसके लिए पूरा मुहावरा भी वहीं से प्राप्त कर लेते हैं, परम देशज-तद्भव रूप में। वोलचाल की भंगिमा उनके यहां सहजता से प्रवेश कर गई है। जव वे व्यंग्य करते हैं तो भाषा प्रहारात्मक होती है, लोकोक्तियों का सहारा लेती, जैसे एक ही पद में दोनों जातियों के पाखंड पर आक्रमण: वैस्या के पायन-तर सोवे यह देखो हिंदुआई, मुसलमान के पीर-औलिया मुर्गी-मुर्गा खाई। उच्चतर मूल्य- संसार रचाते हुए वे अधिक संयत है, पर भाषा योग परक शव्दावली को छोड़कर, सामान्यतया सहज हैं, लोक-गीतों का स्मरण कराती: मोरी चुनरी में परि गयो दाग पिया अथवा वहूरि नहीं आवना या देस। ठेठ देशज भाषा, जिसे कभी अनगढ़ तक कहा गया, समाज के पिछड़े वर्गों से सहज तादात्म्य स्थापित करती है। कवीर पंजाव से छत्तीसगढ़ तक फैले हुए हैं, अपेक्षाकृत शांत-संयत, प्रेमभाव को अभिव्यक्ति देते हुए। वे भी अवधी के ठेठ देशज रूप को अपनाते हैं जो उन्होंने लोकजीवन से प्राप्त की, पर उसमें विविध भावों के प्रकाशन के लिए अवसर कम है। उसे निरायास भाषा भी कहा जा सकता है, इस अर्थ में कि उसमें तत्सम शव्दावली सीमित है। पर लोक संवेदन के जो स्थल उनकी चेतना के समीपी हैं, वहां वे मार्मिक हैं, जैसे मानसरोदक, नागमती वियोग आदि खंड में। कवीर-जायसी में योग की शव्दावली काव्य-भाषा में सहज नहीं हो पाई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काव्यभाषा, शिल्प की संक्षिप्त चर्चा इसलिए क्योंकि जिस समाज-दर्शन को भक्तिकाव्य प्रक्षेपित करना चाहता है और जिस लोकजीवन पर वह आधारित है, उसकी विश्वसनीयता का आधार जीवन-सम्पृक्ति से प्राप्त भाषा ही है। कबीर में यदि भाषा की अनगढ़ मौलिकता है, इस बिंदु पर कि शब्द कहीं से भी पाए जा सकते हैं, प्रश्न उनके संयोजन और अर्थ-निष्पति का है। जायसी की ठेठ पूरबी अवधी की सरसता मार्मिक प्रसंगों में देखी जा सकती है: कुहुकि कुहुकि जहस कोइल रोयी। सूरमें ब्रजभाषा का सर्वोत्तम सुरक्षित है और गीतात्मकता के लिए जिस माधुर्य गुण तथा लय की अपेक्षा होती है, उसमें वे अप्रतिम हैं। सूरदास'की रचनाशीलता का आधार वह पदशैली है, जिसे लोककंठ में स्थान प्राप्त था, लोकगीतों के रूप में। इनके अनाम रचनाकारों ने सूर को इसलिए भी प्रभावित किया क्योंकि वे उनके संवेदन के समीपी थे और सूरसागर के महत्वपूर्ण प्रसंग- "बाल-वर्णन", माखनलीला, गौ-चारण से लेकर भ्रमरगीत तक सूर की चेतना के समीपी हैं। इनकी अभिव्यक्ति में वे जिस संलग्नता तथा रागात्मकता के साथ, स्वयं को नियोजित करते हैं, उसके लिए लोकगीतों की मधुर भाषा प्रासंगिक हैं। कीर्तन-गायन से जुड़कर सूर के पद जनता की स्मृति का अंश बनते हैं और जिस भावलोक का निर्माण होता है, उसे गीतकाव्य के संदर्भ में स्पृहणीय कहा जा सकता है। निश्चल, निर्मल संवेदन जिस तन्मयता से व्यक्त हुए हैं, उसे गीतसृष्टि का एक प्रतिमान कहना अधिक उचित होगा। उसमें लोकजीवन से प्राप्त कवि का वह बिम्ब-संसार भी जिससे दृश्यांकन होता है: देखियत कालिंदी अति कारी अति मलीन वृषभानुकुमारी, निसिदिन बरसत नैन हमारे आदि। पदों की लयात्मकता उन्हें जो संगीतमयता देती है, उसमें वे लोकगीतों की परम्परा का अंग बने और राग-रागिनियों में बंधकर शास्त्रीय गायन से भी सम्बद्ध हो गये।

तुलसी की भाषा का वैविध्य विशेष रूप से विचारणीय है। ब्रजभाषा में भी उनकी रचनाएँ हैं- विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, दोहावली आदि, पर उनका कीर्ति-काव्य अवधी में रचा गया। तुलसी में तद्‌भाव तत्सम का संयोजन उनकी भाषा को ऐसी समृद्धि देता है जो भक्तिकाव्य में विरल है। यद्यपि सभी भक्तकवि लोकभाषा से अपनी अभिव्यक्ति-सामर्थ्य प्राप्त करते हैं, पर तुलसी उसे नया विन्यास भी देते हैं। जीवन'की जितनी छवियां रामचरितमानस में उभरी हैं, उनके साथ न्याय कर सकने के लिए भाषा की यह विविधता अनिवार्य थी। बिना किसी अविश्वसनीय आकस्मिकता के दृश्यों को बदलने में भाषा तुलसी की सहायता करती है। ज्ञान-भक्ति आदि के विवेचन में भाषा का दार्शनिकआधार दिखाई देता है, पर उसे काव्य विषय बनाने के लिए वे उपमाओं का उपयोग करते हैं। मां कैकेयी के प्रति क्षोभ व्यक्त करते हुए, भरत की भाषा में आक्रोश है: बर मांगत मने भइ नहीं पीरा, गरि न जीह, मुंह परैउ न कीरा। पर भरत की भाषा भक्ति का प्रतिमान बनती है और उनके एक ही वक्तव्य में कई भूमियों का संस्पर्श है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाषान्तर : चन्द्रप्रकाश देवल

राजस्थानी प्रेम- सूक्तियां

[राजस्थानी लोक-वाङ्मय में लोक-कथाओं और लोक-गीतों का विशाल भण्डार है। प्रत्येक लोक कथापरम्परागत रूप में अपने 'छोगों' के साथ शुरु होती है। इसी तरह पेशेवर लोक-गायकों द्वारा गाये जाने वाले लोक-गीतों के भी अपने 'छोगे' होते हैं (यद्यपि महिलाओं द्वारा गाये जाने वाले प्रासंगिक, तीज-त्योहारों अथवा अनुष्ठानिक गीतों में यह पद्धति नहीं पाई जाती) इन्हें दोहों के रूप में ये गायक अपने गीत से पहले प्रयुक्त करते हैं। ये दोहे राजस्थानी प्रेमाख्यानों से चुने हुए होते हैं पर मौखिक-परम्परा में यह कहना अत्यन्त कठिन होता है कि यह अमुक प्रेमाख्यान का ही अंश है। चूंकि लगभग सभी प्रेमाख्यानों में विरह एक स्थाई भाव है अतः ये दोहे जहाँ भी प्रयुक्त होते हैं अपनी व्यंजना से तिलमिला देने वाली पीड़ा जागृत करते हैं (जैसे- सोरठ राग में निबद्ध किसी लोक-गीत को गाने से पहले ये गायक सोरठ के प्रेमाख्यान से चुने हुए दोहे अथवा राग-सोरठ के वखान के दोहे, गीत से पहले गा कर प्रस्तुत करते है) भाषान्तर में ऐसे ही कतिपय दोहों का चयन किया है तथा दो लोक गीत 'ढोला-मारु' और 'ओलूं' (स्मृति) लिये हैं। ये रचनाएं अभी तक किसी संकलन में संग्रहित नहीं हैं। मैंने इन्हें सदीक खां और उनके दल द्वारा गाये गए गीतों में से रंगायन के लिए चुना है। सभी रचनाओं में सामान्यतः विरह का दर्द स्त्री के मुख से प्रकट हुआ है। अकाल की विभीषिका से जूझते राजस्थान में सदियों से प्रियतम को नौकरी अथवा कमाने के निमित्त परदेस जाना पड़ा है। यह काव्य-रुढ़ि नहीं बल्कि राजस्थान का भौगोलिक सत्य है जो इस प्रकार बार-बार प्रेम में बाधक तत्व के रूप में व्यंजित हुआ है। मुख्यतः इन रचनाओं में स्त्री-संसार का प्रेम के क्षेत्र में भोगा हुआ वियोग-यथार्थ है। वेदना को सान्द्रित कर प्रकट करने के अर्थों में ही इन रचनाओं को मैंने सूक्तियाँ कहा है वैसे ये अपने मूल रूप में दोहों अथवा गीतों के रूप में विद्यमान हैं। इन्हें प्रेम-गीत अथवा प्रेम-कविता की संज्ञा भी दी जा सकती थी पर इनमें से अधिकतर दोहे हैं और तेरह-ग्यारह की मात्रा वाला यह छोटा सा लोक-प्रिय छंद मुझे सूक्ति के अधिक निकट लगा। राजस्थान के मौखिक-साहित्य में ऐसी सूक्तियां हजारों की संख्या में हैं।]

I

हे नाग जी!
तनिक इस नागर-बेल★ का
स्वभाव निरखें
यह पसरती है पर फूलती नहीं
जैसे जिनका स्नेह सघन होता है
वे विछड़ते हैं पर भूलते नहीं।

★राजस्थानी में ताम्बूल की वल्लरी को नागर-वेल कहा जाता है। इसके बारे में यह प्रचलित है कि इस लता पर पुष्प नहीं आते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

II

सखि!
प्रिय आगमन पर
खुशी के अतिरेक में
मैंने अपने गले का हार तोड़ डाला
अव देखने वाले लोग सोच रहे हैं
मैं आंगन में विखरे हुए मोती वीन रही हूं!

पर ऐसा है नहीं
मैं तो इस वहाने
अपने प्रियतम को झुक-झुक कर
सलाम कर रही हूं!

III

अनुरोध यदि नहीं स्वीकार है
तो अपने मन से प्रस्थान कीजिये
सिधाइये!
और अपनी इच्छानुकूल रहिये
सिद्धि और शुभ आपके संग रहें!

पर मेरी अपनी
इस जीभ से तो
आपको 'जाओ' कहा नहीं जाएगा।
क्षमा करें!

IV

सखि!
निगोड़े इस भाग्य का क्या करुं
जिसमें अपनी इच्छा से
कुछ भी वनना नहीं वदा है
काश!
मैं वदली भी हुई होती
तो परदेस सिधाते प्रियतम को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपनी छाया से दुलराती
थोड़ा सा अतिरिक्त साथ देना भी
हाय, मेरे नसीव में नहीं!

V

ओ प्रियतम!
मुझ असहाय की प्रार्थना स्वीकार कर
प्रस्थान स्थगित कर दीजिये!

यह देखो
सामने वाले रेत के ढूह पर चढ़ते हुए

शकुल अक्षुभ हो रहे हैं
मृगों की यह डार
आपका रास्ता काट रही है!

इस के वावजूद भी
यदि जाना ही है
तो कृपा कर
अपनी स्मृतियों की गठरी भी
अपने साथ लेते जाइये!

आपकी अनुपस्थिति में
ये आपकी स्मृतियां
मुझे और दुख देंगी!
व्याकुल कर देंगी!

(ओळूं गीत से)

आश्चर्य

पोखर के इस
विटप गाछों से घिरे मैदान में
कोई अहेरी भी नहीं खड़ा दिखता है
दुवक कर
न अंग पर लगे हैं वाण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस मृग-युगल ने आखिर

तजे तो कैसे अपने प्राण?

पर्याप्त नहीं पोखर में
जल शेष
पर मन के कोटर में
नेह नहीं थोड़ा।

तू पी नहीं तू पी
कहते मरा
क्लांत-श्लथ प्यासे मृग का जोड़ा।

यह प्रीत करने वालों की विसात।
इसमें आश्चर्य की क्या वात!

प्रीत का भार

प्रीत से अवोध नायिका के
मन ही मन
घुटती आकुल जिज्ञासा
अवसर पर हुई उजागर
'आखिर नेह में होता है कितना भार?'
सयाने वोलों से मिला प्रत्युतर तत्काल-
'प्रीत लगते ही हो जाती है लाखों मन भारी
फिर पल-पल वढ़ने की तैयारी
और टूटने पर
नहीं रह जाती छदाम भर'

प्रीत शव्द भी वोझ हो जाता है।

उलाहना

क्या कह कर वधाई दूं-
तुम्हारी चहेती की देह-वगिया में
मयूर-यौवन वलात आ वसा है
मुझ अकेली की अजव दशा है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भला! ऐसे समय में मनुहार

दैया! यह न हो सकेगा व्यवहार
स्वयं समझो!

आषाढ़ की ऋतु में
वोए गये थे जो वीज तिल के
उसकी कोंपल के नन्हें-नन्हें पान
सूचित हो कि हो गये जोध-जवान
अपने वड़े-बड़े पत्तों से तना
पवन संग झुक-झुक कर वही
शायद कर रहा गुहार।
पौधे का मत करो प्रतिकार!
स्वयं समझो!

आना-जाना हो सकता है प्रिया!
पर मांगलिक अवसर हों अथवा त्यौहार
विन अवसर आने में नहीं सार
कभी निश्चय ही आएंगे दिवाली वाली रात
मन में रखो माननी, थोड़ा धैर्य और विश्वास
इतना तो अधिकार
दो मुझे-ओ चंदा-वदनी नार
मन समझाओ!

पनघट जाते इस दल को तनिक निहार
सोलह को छूने लगी है यह तेरी पनिहार
घड़ा न डूवे, न डूवे वेवड़ा, हाय
ईडानी तो रह गई परले पार
यह जल ले जाना है मन मार
स्वयं समझो! ओ भरतार।
भला इस हालत में मनुहार
दैया! होगा न मुझसे यह व्यवहार।
समझो! ओ भरतार!

आश्रय

ये गहरी दाझ वाले
अपने थपेड़े लिये हुए, लू!
यह तो वता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पृथ्वी पर पावस के आ जाने पर

तेरा होगा कहाँ डेरा?

वस, नवोढा स्त्री की हृदय नगरी में
जिसका प्रियतम गया हो
परदेश कमाने रोटी
दग्धा वियोगिनी के उसी दिल में डेरा मेरा!

मुझ जलाने वाली को
दूसरी जगह ठौर कहाँ
एक वियोग हो जहाँ।

जलाने वाले का आश्रय
वनते हैं सदा जलने वाले
इतना भी नहीं जानता
तू, अरे! ओ पूछने वाले।

सावधान

इस दुनिया में
न मिलना भला है
न विछुड़ना उत्तम

दीये को प्राण-प्रण से चाह कर
मिलते हुए पतंगे ने गवांई जान
और विछुड़ कर अपने ज़ीवन जल से
मछली ने तड़फ-तड़फ कर दी अपनी जान

वस, इतना सा पहचान
अरे, नादान!
संयोग-वियोग के उतार-चढ़ाव से
वनी है तेरे वांछित जग की राह

सावधान!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाषान्तरः डॉ. हेतु भारद्वाज

पांच राजस्थानी लोक गीत

लोरी

मेरे मुन्ने को खेल खिला री चिड़िया,
मेरे लाला के संग खेल री चिड़िया,
आ जा री चिड़िया आ जा।
मुन्ना रोए च्याऊं-म्याऊं
आंसू ढरकें मोती जैसे
मेरे लाला को आय हंसा री चिड़िया,
मेरे मुन्ने के संग खेल री चिड़िया
आ जा री चिड़िया आ जा।
तेरे पंजों में वांधूगी घूंघरु री
तेरे गले में मोतियों का हार
री चिड़िया मेरे लाला को खेल खिला री चिड़िया
आ जा री चिड़िया आ जा।
ईंगुर से तेरी चौंच रंगूगी री
तेरे पंखों पै डालूं केसर रंग
री चिड़िया, मेरे लाला को खेल खिला
आ जा री चिड़िया आ जा।
आगंन में वखेरूं वाजरी री
तू नित उठ चुगने आ, पर
मेरे लाला को खेल खिला री चिड़िया
आ जा री चिड़िया आ जा।

ईढुंरी

खो गयी ईढुंरी,
हाय! मेरी खो गयी ईढुंरी, राम! मेरी खो गयी ईढुंरी।
सवा पाव की मेरी ईढुंरी री,
जिसमें लागा सवा तार का सूत। हाय! मेरी - - - - - - - -
अम्मा ने वनायी मेरी ईढुंरी री,
जाका मामी ने काता सूत। हाय! मेरी - - - - - - -
मोती जड़ी थी मेरी ईढुंरी री,
जामें हीरों जड़ा लागा सूत। राम! मेरी - - - - - - -
सवा लाख की ईढुंरी री,
जामें सवा लाख का लागा सूत। राम! मेरी - - - - - - -
और वनाऊंगी नयी ईढुंरी री,
मैं कातूंगी दूजा सूत ।हाय! मेरी - - - - - - - -

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मोती जड़ूंगी ईंढुंरी में,
और हीरों से जड़ूंगी सूत । राम! मेरी खो गयी ईंढुंरी,
हाय! मेरी - - - - - - - - -

वीजा-सोरठ

यौवन की केसर की क्यारी ओ वीजा,
मेरे तन की वाड़ी फूली जी राज,
तुम्हरी राह निहारे सोरठी,
जल्दी आओ जी वीजा राज।।
लिख-लिख पाती तुम्हें पठायीं,
भेजे कितने ही संदेशे,
जल्दी आओ वीजा,
जल्दी आओ जी राज।।
मामी कैसे टालूं हुकम तुम्हारा?
कैसे आऊं पास तुम्हारे? मामी! मामा का डर लागे,
कैसे आऊं पास तुम्हारे जी राज।।
आओ वीजा जल्दी आओ
जोहूं वाट तुम्हारी, तुम्हारे मामा गये परदेस,
सोरठ तरसे तेरी खातिर, वीजा जल्दी आओ,
जल्दी आओ जी राज।।
आया ढोल वजाता वीजा,
तुरत-फुरत चढ़ आया,
डेरा तो डाला सोरठ के वाग में जी राज।।
देखे-सारे बाग-वगीचे,
कच्ची कलियों पर मोहित बीजा हो गया।
आया ढोल वजाता वीजा,
डेरा डाला सोरठ के द्वार पर, जी वीजा आ गया।।
आया ढोल वजाता वीजा,
डेरा तो डाला सोरठ के महल में, जी वीजा आ गया।।
सोरठ झांकती जाली-झरोखे
कोई देख ने उनका प्यार,
वीजा रमण करे सोरठ की सेज पर जी, वीजा आ गया
इस वस्ती के लोग वुरे हैं,
भरम करेगें पाप का रे वीजा,
सोरठ डरती सी कहे,
पर वीजा से चिपकी रहे।
मेरी तेरी प्रीत-पावनी,
बोले बीजा,
कहले जो दुनिया को कहना,
तू मेरी प्यारी-मामी,

भाषान्तरः डॉ. हेतु भारद्वाज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैं तेरा प्रियतम भानजा री मामी तू क्यों फिकर करे?
सच्ची अपनी प्रीत री मामी,
मत घवरा, आ प्रेम करें,
आ रमण करें री मामी, तेरी सेज पर।।

★'वीजा सोरठ' राजस्थान का प्रेमाख्यान है। इस प्रेमाख्यान को लेकर राजस्थानी में अनेक लोक-गीत है। सोरठ बीजा की मामी है। दोनों में प्रणय-सम्बन्ध हो जाते हैं। एक दिन अपने पति की अनुपस्थिति में सोरठ वीजा को अपने महलों में आमंत्रित करती है। गीत में इसी घटना का वर्णन है। दोनों में हुए पत्र-व्यवहार का भी उल्लेख है।

हे बनवारी लाल

हे! वनवारी लाल,
करूं मैं कैसे तुझसे होड़?
नहीं कोई तेरी-मेरी होड़।
तुम्हरे महल-दुमहले सुन्दर,
अपनी टूटी-टाटी छान,
करूं मैं तुझसे कैसे होड़, हे! वनवारी लाल।
तुम हो स्वामी कामधेनु के,
भेंस-पाड़ी है अपने पास,
करूं मैं तुझसे कैसे होड़, हे! वनवारी लाल।
तुम्हेर द्वारे हाथी घोड़े,
ऊंट-टोरड़ा अपने पास,
करूं मैं तुझसे कैसे होड़ हे! वनवारी लाल।
भाले-वरछी अस्त्र तुम्हारे,
जेली-गंडासे मेरे औजार,
करूं मैं तुझसे कैसे होड़, हे! बनवारी लाल।
रत्नभरा सागर है तेरा,
कोई अपना उथला ताल,
करूं मैं कैसे तुझसे होड़, हे! वनवारी लाल।
तुम सोते तकिए गद्दों पर,
फटी गूदड़ी अपने पास,
करूं मैं तुझसे कैसे होड़, हे! बनवारी लाल।
चतुर राधिका रानी तुम्हारी,
अपनी भाली भाली ग्वालिन,
करूं मैं तुझसे कैसे होड़, हे! बनवारी लाल।
हे! बनवारी लाल।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वरसात

रिमझिम रिमझिम वरसा वरसे, वादल गरजे घोर, गगन में।

मेरे जेठ काटते पौधे,
पिया जोतते हल, री रिमझिम वरसे वरसा।
देवर वांधे खेत में क्यारी,
जिठानी रोटी लेकर आय, री रिमझिम वरसा वरसे।

वाल भतीजा छेरी चरावे,
ननदी घेरे गाय, री झिरमिर बरसा वरसे।

ग्वाले खायें नरम चूरमा,
हाली हलवा-खीर, री रिमझिम वरसा बरसे।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुवादिका : चंद्रप्रभा पांडेय

उडीसा के पन्द्रह लोकगीत

(ये लोकगीत श्री सीताकांत महापात्र की बहुमूल्य पुस्तक "The Endless Weave" Songs And Tales of Orissa" से लिए गए हैं। अपनी लम्बी भूमिका में उड़िया कवि महापात्र ने लोक गीतों को सुरक्षित संरक्षित करने की आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। जनजातियों को लोक गीतों को इक्ट्ठा करना, उनका अनुवाद करना, उनके ही प्राकृतिक उपमानों को बचा, रखना एक अत्यं त कठिन काम है । लो कगीत किसी भी प्रदे श, जातियों की सं स्कृ ति की एक अलभ्य धरोहर है। मनुष्य के लिए प्रकृति जीवन का एक अंग थी, उनके लिए पढ़कर पर्यावरण के लिए जागरुक होने की आवश्यकता नहीं थी, सृष्टि का विस्तृत संसार उनके जीवन का एक अंग था, जैसे कि हवा, पानी और धूप। ॠतुओं, मौसमों, फसलों का अनवरत वदलना, आना जाना उनके लिए आंनद था। सुखः-दुःख, गर्मी-सर्दी, धूप-छांह, मिलन-विछोह, जीवन-मृत्यु सभी गीतों के विषय थे। गीत और नृत्य जीवन के अंग थे। कुछ भी ऊपर से आरोपित नहीं था, न कृत्रिम। यह अकृत्रिमता और सहजता इन लोकगीतों की थार्ती है- ये गीत कहीं गहरे हमें छूते हैं क्योंकि ये सनातन है। जीवन एक ऐसा उत्सव है जिसमें सवरंग है- इन विविध रंगों के उत्सव के विना यह जीवन शुष्क है।"

सात प्रेम गीत

एक हो गीत

जव तुम थी एक छोटी लड़की
मैंने तुम्हें धूल-मिट्टी में खेलते हुए देखा है
अपने गांव की गलियों में
जव मैं तुम्हारा रास्ता रोकता
तब तुम मुझसे रास्ता छोड़ने का अधिकार जताती

अब जब मैं वड़ा हो गया हूँ
मैं तुमसे सिर्फ कुछ कहना चाहता हूँ
तुम वेरुखी से जवाव देती हो
तुम मुझसे कुछ कहना चाहते हो
तुम मेरा गाना सुनना चाहते हो ;
जाओ पहले पंद्रह रुपए लेकर आओ।

संथाली गीत

खतम हो गया है नाच गाँव की गली में
वृक्षों के फूल गए है सूख,
पच्छिम में तारे गए हैं डूब,
चाँद दिख रहा है थका और निस्तेज,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जानें दो मुझे अव घर
जाने दो मुझे अव घर, ताकि मैं तुम्हें स्वप्नों में सकूं देख।

संथाली गीत

पोखरों के गहरे नीले जल में
खिलते हैं फूल कमल के
कमल के फूल ताकते रहते हैं आसमान को
तैर कर जाओ और तोड़कर इकट्ठा करो,
और अपने होंठो से करो उनका चुंवन।

बोडा गीत

रात लेती है विदा
अंधेरे की कोख से आए हैं निकल-वाहर
खेल-खलिहान, पेड़-पौधे और पहाड़ियां,
आ गया है समय विदा लेने का

मैं भोर से हूँ
वहुत नाराज़,
यह रुक क्यों नहीं सकती थी?
थोड़ा सा और सो क्यों नहीं सकती थी?
तुम्हारे विना
यह घर घर नहीं
रह जाएगा,
तुम्हारे विना,
यह गाँव
गाँव नहीं होगा

हमारी वैरन
भोर अव आ गई है।

संथाली गीत

सड़क के छोर पर आम के वाग में गाती है कोयल,
प्रिय मित्र आ ही गई है अव गरमी की ऋतु
कुसुम और पलास के फूलों ने लगा दी है आग वनों में,
तुम कहाँ खो गए हो मेरे प्रियतम?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संथाली गीत

मेरी सारी सहेलियां चली गई हैं ससुराल
मेरे सारे दोस्तों के हो गए है विवाह,
दरख़्तों के फूल सव गए हे मुरझा
गई हैं पत्तियाँ सब झड़
और वौराई हवा ने उड़ाकर विखरा दी है पत्तियाँ सव इधर उधर
और मैं ही बचा हूँ अकेला

संथाली गीत

प्रिय मित्र, ऐसी गरमी में
इस चिलचिलाती धूप में
तुम कर रहे हो इकट्ठा हरी सलाद की पत्तियाँ केसरी बेड़ा में

प्रिय मित्र, इस जान लेवा धूप में
चमकीली हरी लताएं लहरों की तरह टकराती, पसरी पड़ी हैं
वेड़े पर,
झाड़ों के झुरमुट से निकल कर आ रही है एक लड़की
लिए सर पर लकड़ियों का गट्ठर

आओ हम ध्यान दे साल फूलों के पंचाग की ओर
माहुल फूलों के पत्रे की तरफ,
कितना सुंदर है उसका केश-विन्यास
कैसे अद्‌भुत जंगली फूल है उसकी केश-सज्जा में
मैंने देखे हैं जंगली फूल वनों में

मुझे याद हैं वनों के जंगली फूल

तीन विवाह गीत

मुंडा गीत

यह सुंदर गाँव छोड़
तुम जा रही हो वेटी,
फसलों से हरे-भरे लहलहाते इस देस को छोड़
तुम जा रही हो वेटी।

सिंदूर की एक रेखा
और छोड़ रही हो तुम गाँव,
दो तश्तरी हल्दी
और तुम छोड रही हो देस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संथाली गीत

फागुन का वढ़ता हुआ चांद
और लो आ गया तुम्हारे विवाह का दिन
आज रात चढ़ेगा तुम्हें हल्दी और तेल,
कल शाम हम तुम्हें कर देंगे विदा
मत रो मेरी बेटी
यही है दुनिया की रीति

हो गीत

तुम्हारी ससुराल से आए
तेल और हल्दी में
भरे पड़े है वालू के कण,
तुम्हारे कोमल शरीर में इसे नहीं लगाया जा सकता।

परन्तु तुम्हारे मायके से आए
तेल और हल्दी में
मिलाई गई है मेंथी
और कितनी अच्छी सुगंध उससे आ रही है।

पाँच उत्सव गीत

मुंडा जादुर गीत

प्रिये यह घाटी है साल वृक्षों की
वृक्षों से झड़ रहे हैं फूल,
चू रहा है रस धरती पर
        हम जाएंगे और इकट्ठा करेंगे,
झर रहं हैं फूल,
        हम जाएंगे और इकट्ठा करेंगे उसे।

मुंडा जादुर गीत

कड़कती ठंढ के वाद तुम आए हो
राजा या फिर किसी रानी की तरह सुसज्जित हो,
कव से हमें तुम्हारी प्रतीक्षा थी,
और आज निकला है चैत की पूर्णमासी का पूरा चांद।

तुमने पुरानी पीली पत्तियाँ ले ली हैं
तुमने हरी पत्तियों की साड़ी पहना दी है
मैंने जंगल के वृक्षों को देखा है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वे लद गए हैं कलियों, फूलों और फलों से।

उत्सव गीत

देखो प्यारी माँ
कौन खड़ा है वहाँ,
पता करो बापू,
कौन है खड़ा वहाँ।

देखो वह खड़ी है, देवी लक्ष्मी
देखो यह तो फसलों की देवी खड़ी हैं।

बाहर है ठंढ,
आओ लक्ष्मी, अंदर आ जाओ,
ग्रीष्म ऋतु आने वाली है, उसका पीछा करती आएगी गरमी,

फसलों की देवी, अंदर आ जाओ।

मुंडा जादुर गीत

गांव के बीचोंबीच है हुंडी के फूल, मेरे प्रिय
हुंडी फूल होते हैं सुनहले
हमारे गांव में है जाम्बिर के फूल, प्रिये
जाम्बिर होते हैं रूपहले।

इन सुनहरे हुंडी फूलों से प्रियतम
गूंथों मेरे लिए एक पुष्पहार
इन रूपहले जाम्बिर फूलों से प्रिये
बुन दो मेरे लिए एक माला

मुंडा करमा गीत

गाती है कोयल कुहू कुहू
बरस गया है बीत
परन्तु वे नहीं देते दिखाई कहीं भी।

सिर्फ पांच छः दिनों की बात थी
पर कितना समय गया बीत
हाय! कहाँ गए मेरे प्रिय
कहाँ अदृश्य हो गए मेरे प्रियतम?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पलास के पेड़ो में लगी है आग
माहुल के वृक्ष लद गए हैं हरे पत्तों से
परन्तु उनका कोई नामोनिशान तक नहीं
हम किसके लिए गूंथेगे पुष्पहार?

उनके लौटने का इंतजार करते, सोचते
हमारी आंखे टिकी है राहों पर,
खाना है लगता वेस्वाद,
फिर भी उनका पता नहीं
कौन जाने, वे फिर कभी वापस लाटेंगे भी?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्कृत से अनुवाद : राधावल्लभ त्रिपाठी

अमृत और विष में बुझी हुई

(प्रेम कविता के कुछ अंश)

I

अलसाई गति, सूनापन यह और नयन का
होते जाना यों असहाय शिथिल इस तन का
साँसों का सहसा तेज-तेज यह स्पन्दन
और सोचने लगना फिर यों हो कर उन्मन
कि यह सब हो सकता है क्यों कर और कैसे
यह वह ही है, या और कहीं कुछ है, जैसे
घूम रहा है आदेश काम का निखिल भुवन में
भरते जाते हैं अनचीन्हे विकार यौवन में
घुमड़ रहा है सुन्दर और मधुर इक सागर
भावों का, धीरज की कगार को तोड़ तोड़ कर।

○○
उसे देख कर सम्मुख, मैं था थमा चौंक कर
अस्त हुए अनुभव समस्त, यों उस थम जाने पर
कुछ भी नहीं वचा, बस था इक अमृत का सागर
मन हिलोर लेता था उसमें उतरा कर
पर अव वही करता है मन क्यों यह कैसे
अंगारे ने चूम लिया हो इसको जैसे।

○○
वह अलसाई कुछ तिरछी भोली चितवन
नेहपगी तकती रह गई मुझे जो थंम कर
मन्द हंसी सी विखरी थी कुछ उसके भीतर
और खिले थे तारे दो विस्मय में भर कर
मेरे असहाय हृदय को उसने सहला कर
हर लिया है वींध वींध कर, कर डाला जर्जर
पी लिया है, रख दिया है जड़ से उखाड़ कर।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कमल सरीखा गुंथा हुआ सौ पांखुरियों से
जाते-जाते उसने काँधे पर मुख मोड़ा
घनी वरौनी वाले अपने दो नयनों से
ताका मुझे और फिर तीखा सा छोड़ा
वह कटाक्ष, जो सना हुआ था अमृत में, विष में
कहीं वहुत गहरे तक खुभा दिया इस मन में।

००
अलग अलग पहचान नहीं पाता हूं तव से
चीजें, अपरिचित हुए जो परिचित थे कव से।
टूटता नहीं है ताप हिमसर से, चन्द्रमा से
निष्ठा से छूँछा मन, काट रहा है चक्कर
या उकेरता रहता है वस उलझे अक्षर।

००
ऐसे कैसे देखा था उसने मुझ को यों?
श्वेत कमल की गुंथी, पहना दी माला ज्यों।
या नहलाया हो मुझ को बरसा वरसा कर
मधुर दूध की धारा वह अतिशय शुभ्र धवल उज्जवल
गाढे अमृत के वादल में मुझे उठाकर
ढक डाला हो या उसके भीतर ही भीतर
या फिर लील लिया हो धीरे धीरे कर के
वड़ी-वड़ी आँखों से उसने टुकड़े टुकड़े।

००
कह नहीं सकता - - कैसे है वह मेरे मन में - -
खो गई है वहाँ पहुँच कर, या प्रतिविम्वित
या चित्रित है छवि उसकी, या उकरी भीतर।
या फिर हर और स्वयं को ही वो वो कर
फैली है वह मेरे मन की इस धरती पर उग कर
या फिर वज्रलेप में सन कर लिपटी है
कहीं वहुत गहरी नीवों में धँस कर
या फिर टाँच लिया है उसने अपने को ही क्या
कामदेव के वाणों की कीलों से भीतर
या फिर चिन्ता के ताने वाने में वुन कर
सिल दिया उसने अपने को मेरे भीतर।

(भवभूति के मालतीमाधव से)

संस्कृत से अनुवाद : राधावल्लभ त्रिपाठी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

II

प्रेम का होना, फिर टूट जाना उसका
इससे तो अच्छा था, होता ही नहीं प्रेम।
अच्छी भली आँखें उखाड़ लेने पर
तड़पा करता है जैसे कोई जीवन भर
जन्म का अन्धा
वैसे तो नहीं तड़पता।

(रविगुप्त : सुभाषित रत्नकोष- 805)

III

तकती रही वहां तक
जहाँ तक तक सकती थीं आँखें।
गये हुए प्रिय के पदचिह्नों की
तकती रही वह पाँत।
धुँधला गये पदचिह्न
फैलता गया साँझ का अंधियारा
डूबता गया दिन।
हार कर पलटी वह भीतर
रखा एक पाँव
घर के दुआर पर
प्रवासी की प्रिया ने
और फिर - - -
'कहीं वह आ तो नहीं रहा लौट कर - - '
यह सोच कर
झट से घुमा कर गरदन
फिर से देखा उसी राह को।

(अमरुक, अमरुशतक -76)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

IV

सखियाँ पूछा करती हैं बार-बार - - -
क्यों रहती हो ऐसी तुम,
मसली हुई मालती जैसी?
विरह में व्यथित आर्त वह वाला
वोलती नहीं एक शब्द भी शालीनता में
रोक कर घुमड़ती अश्रुराशि
देखती रह जाती है केवल
कुछ खिलती मंजरियों की नोकों वाला
आंगन में लगा
आम का गाछ।

(वाक्कूट, सुभाषित रत्नकोश -741)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुवादक- राजेन्द्र उपाध्याय

असम के बिहू लोकगीत

सभी लोक गीतों की तरह असम के बिहू गीत भी जीवन के हर्ष और विषाद, पतझड़ और वसंत, ग्रीष्म और शरद, सूखे और बारिश से भरे हैं। वे वसंत के आगमन के समय, नृत्य के साथ गाए जाते हैं। इनमें प्रेम, विरह, संयोग-वियोग के साथ-साथ सामाजिक और घरेलू जीवन पर टिप्पणियां भी मिलती है। हल चलाते गाये जाने वाले ये गीत कृषि संस्कृति की उपज है गरीबी, भेदभाव, सामाजिक विषमता की छाया भी यहां दिखती है। प्रकृति का मंद्र राग भी सुनने को मिलता है। बादलों की गरज भी और झरनों का कलरव भी! ईर्ष्या, द्वेष, राग-विराग, प्रेम और वत्सलता भी यहाँ है। यहां अनूदित बिहू गीतों में जीवन के विविध रंग मिलेंगे।

I

अगर मैं एक पंछी होता
तो तुम्हारी झील में गोता लगाता

अगर मैं एक मछली होता
तो तुम्हारे जाल में फंस जाता

अगर मैं पसीना होता तो
तुम्हारे शरीर पर छा जाता

अगर मैं एक मक्खी होता
तुम्हारे गाल पर बैठ जाता।

II

तुम आये और मेरे द्वार से निकल गये

कुछ कहा तुमने पर क्या मैं सुन नहीं पाई

लेकिन मेरे भीतर जल रही है आग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

III

कौनसे फूल तुमने चुराकर मुझे दिए प्रिय,
कौनसे फूल?

उन्हें पहन भी नहीं सकती सखियों के सामने

वे मुरझाते है केवल मेरी टोकरी में

IV

इस माला को मैंने गूंथा है
मुझे नहीं मालूम कितने फूल है इसमें

लेकिन मेरी प्रिया पहनेगी इसे

मुस्कुराती हुई।

V

मैना फंस गई है पिंजरे में
हाथी जाल में

मेरा पिया फंसा है सरकारी चाकरी में

नींद आती नहीं मुझे सारी रात।

VI

मुझे खोलने दो यह पिंजरा
आज़ाद करने दो मैना को

मुझे काटने दो जाल
और छोड़ने दो हाथी को मैदान में

मुझे वेचने दो अपना मुक्ताहार
और छुड़ाने दो पिया को नौकरी से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैं सोऊंगी सारी रात जिसके साथ!

VII

मैं खोलती हूं अपने केश
पर उनके लिए तेल नहीं है

मैं थाली सजाती हूं
भोजन नहीं है पर

मैं सजाती हूं फूलों की सेज
जीवन-संगी पर नहीं है

ओह! मैं पाऊं किससे प्रेम?

VIII

सोच-सोचकर मैं दुवली हो रही हूं
सब कामकाज भूल जाती हूं

अगर मैं खाना खाते याद करती हूं तुम्हें
तो मेरे मुंह का कौर वाहर आ जाता है।

IX

वमुश्किल उगाता हूं मैं सरसों
गाएं चर जाती हैं उसको

वमुश्किल कष्ट सह सह के मैं पालता हूं मेरी वेटी को
बड़ा करता हूं

दूसरे करते है भोग उसकी सेवाओं का।

X

पसीना सूख जाता है मेरे शरीर पर ही
मैं जरा दम नहीं लेता

आधा दिन भैसों को जोतता हूं हल में
आधा दिन हल मैं जोतता हूं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और रात भर पत्नी
हल चलाती है मुझ पर!

XI

तुम कल आये और दिन भर दोस्तों में गांजा पीते रहे
तुम्हें क्या पता क्या हो रहा है घर में
एक विदेशी सैनिक उठा ले गया है
तुम्हारी मां की
कनपटी पर वंदूक रखकर!

XII

किसी गंजेड़ी से कभी व्याह न करो

तुम्हें गांजा वनाकर देना पड़ेगा वार-वार
उसके झूठे वर्तन धोने पड़ेंगे
वह चिलम भरता रहेगा अपनी

तुम्हें उसके लिए रोटी सेंकनी पड़ेगी।

XIII

संसार वनाते हुए
भगवान ने रखा हमें साथ-साथ
तो सिर्फ़ घंटे भर की छुट्टी में।

XIV

सुनो भाईयों और वहनों, सुनो
गांव मेरा चिड़िया के घोंसले की तरह
भरा है लोगों से

फिर भी क्यों छाई है वहां चुप्पी-सी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुवादिकाः डॉ. रति सक्सेना

केरलीय ईसाई स्त्रियों के लोक गीत

जिस प्रकार उत्तर भारत में विवाह आदि अवसरों पर नारियाँ गीत गाती है जिनमें मंगल भावना के साथ-साथ छेड़छाड़, हँसी ठिठोली, वेदना तथा पहेलियाँ सी होती हैं। इन लोक गीतों में नारी भावना को प्रकट करने वाली रचनात्मक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। भावनाएँ तो शाश्वत है और सार्व-भौमिक भी। इसीलिए केरलीय सीरियन ईसाई महिलाओं के लोक गीतों में उत्तर भारतीय लोक गीतों से काफी समानता मिलती है। इन गीतों में ताल, अनुप्रास व हास्य-व्यंग्य को विशेष महत्व दिया जाता है। ये लोक गीत १८वीं सदी से पहले से प्रचलित हैं। 'सीरियन ईसाइयों के इतिहास' (कृष्ण अय्यर) नामक पुस्तक में (प्रकाशित १६२६) इन गीतों का उल्लेख है। आज भी ठेठ ग्रामीण इलाकों में ये गीत गाए जाते है- 'कुलिप्पाट्ट' यानी दूल्हा दुल्हिन का नहान गीत

I

नहान गीत

टीला खोद नहान घाट दीख पड़ा
रेत सरका सुन्दर लाल दीख पड़ा
फूलसजे कुन्तल और फूल भीग पड़े
फूलों से सजा सिर भीग गया
शंख सी सुन्दर गर्दन भीग पड़ी
चन्दन लिये स्तन भीग गए
सारी भूमि चारो ओर भीग पड़ी
चीते सी छीन कटि भीग गई
सारे के सारे कपड़े भीग गए
सिर से पाँव तक बदल भीग गया
सोने के लोटे से जलभर कर वह नहाता
चाँदी की लुटिया से जल भर वह नहाती
रेशमी धोती रेशमी रुमाल चाहिए, कहे दूल्हा
रेशमी साड़ी सुन्दर अंगिया दे दो, कहे दुल्हन
काँसे के कटोरे में चन्दन चाहिए, कहे दूल्हा
थाली में कस्तूरी चाहिए, कहे दुल्हन
सोने की खड़ाऊ पर धीरे-धीरे वह चलता
चाँदी की खड़ाऊ पर धीरे-धीरे वह चलती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

II

चविट्ट कळि पाट्ट'- यह एक तरह से समूह गीत है जिसमें सभी कार्यसम्प्रदाओं की महिलाओं की भावनात्मक एकता प्रदर्शित होती है। तकर नामक निस्सार से पौधे को केन्द्र वना समाज के सभी वर्गों की महिलाओं के सहयोग की अपेक्षा की गई है। यह गीत सभी समुदायों से हेलमेल व सहभावना का प्रतीक है।

आकाश में विजली कड़की, आंगन में धूल छाई
तभी फूट पड़ा एक सुनहरा 'तकर' गाछ
ओ सुनार की सुनारिन, सुन्दरी सुनारिन
तू मेरे साथ आ 'तकर' गाछ चुनने को
ओ मल्लाह की मल्लाहिन, सुन्दरी मल्लाहिन
तू मेरे साथ आ 'तकर' गाछ चुनने को
वैठे-वैठे चुना, खड़े-खड़े चुना फिर टोकरी ले
टोकरी में रखा 'तकर'★ चुन-चुनकर
'पाकनार'★ के वनाए छोटे से
सूप से फटका उस सुनहरे 'तकर' को
लोहार के गड़े छोटे से
हँसिए से काटेगे उस सुनहरे 'तकर' को
कुम्हार के वनाए छोटे से
मटके में भर-भरकर रखेंगे सुनहरे 'तकर' को
वढ़ई के वनाए सुन्दर डव्वे में
दौड़-दौड़ कर चढ़ेगा सुनहरा 'तकर'
मुकुलित हो गिर पड़ा सुनहरा 'तकर'
ऊपर चढ़ फैल गया सुनहरा 'तकर'★

III

जो न जनमती हम लड़की का रूप धर
माटी ही वन जनम लेती
माटी पर एक विरछ वन ही जनमती तो
आने-जाने वालों को छाया तो देती।

II= तकर = एक प्रकार का जंगली पौधा

★ पाकनार एक जन जाति जो वाँस का सामान भी वनाती है।

III तिरिक्कल पाट्टं = लो कगीत - स्त्रियों के जीवन में स्वप्नभग्न, निराशा व गरीवी को।वर्णित

अनुवादिकाः डॉ. रति सक्सेना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

IV

पुलया स्त्रियों का गीत

"चुवडुकळिपॉट्ट" = तालनृत्य का गीत- इस गीत में गीतों के बोल की जगह अनुप्रास व ताल का महत्व अधिक है जिसे मूल भाषा में समझा जा सकता है

गोल वगीचीं नई वगीचीं गोल वगीची
नई वगीची, गोलाई में खोदा
सुन्दर कुआँ, कुएँ में है एक
साँप का वच्चा, अव क्या करें 'तम्पुराने।★

चारों तरफ है साँप घूमे
अब क्या चाहिए 'तम्पुराने।★

गाँव से एक वड़ा हाथी मंगवाया
हाथी को बाँध कुएँ में उतरवाया
हार्थी और साँप में हुआ मल्लयुद्ध
हाथी न निकाल पाया कालेफण का नाग
अव क्या चाहिए तम्पुराने।★

गाँव से एक वड़ा भैसां मंगवाया
भैंसे को बाँध कुएँ में उतरवाया
भैंसे और साँप में घमासान युद्ध
भैंसा न निकाल पाया काले फण का नाग
अव क्या करे तम्पुराने।★

गाँव से एक बड़ा नेवला मंगवाया
नेवले को बाँध नीचे उतरवाया
नेवले और साँप में घमासान युद्ध
काले फण का साँप निकाल न पाया नेवला।

तम्पुराने- मालिक या स्वामी के अर्थ में प्रयुक्त।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रेड इंडियन क़बीलों के लोकगीत

चीज़ों में जान डालने से पहले का वार्तालाप

(लुसेओं कवीले का लोकगीत)

एक औरत चित्त लेटी हुई।
उत्तर की तरफ उसके पैर।
दक्खिन की तरफ उसका सिर।
धरती उसका नाम।
आकाश वीरन उसके दाहिनी वग़ल वैठा हुआ।
उसने कहा, हाँ वहिना, अव वताओ तुम कौन हो?
धरती ने जवाव दिया,
मैं तोमायोपित हूँ . . . और तुम?. . . तुम कौन हो?
आकाश वोला, मैं तुकमित हूँ।
तव उसने कहाः

मैं क्षितिज तक पसरी हुई हूँ; चित्त
मेरे हिलने भर से
वादलों की गड़गड़ाहट जैसा शोर होता है
मैं भूचाल हूँ
कुँडलीं- जैसी गोल
और सर्वत्र व्याप्त,
मेरी माया अपरम्पार है
ग़ायव हो जाती हूँ और फिर प्रकट हो जाती हूँ।

तव तुकमित ने कहाः

मैं ढकने के माफ़िक़
तुम्हारे ऊपर धनुष वनकर तनता हूँ
पगड़ी के माफ़िक़ तुम पर सजता हूँ
मैं ऊपर की ओर ऊँचे, और ऊँचे जाता हूँ
मैं मृत्यु हूँ और एक ही वार में सव कुछ डकार जाता हूँ
मैं पूरव की ओर से लोगों को झपटता हूँ
और टुकड़े-टुकड़े कर देता हूँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेरा नाम मृत्यु है।

और उसके वाद उन्होंने चीज़ों में जान डाली।

मायावी बोल

एस्कीमो लोगों के इनुदत कबीले का लोकगीत

विल्कुल शुरू-शुरू के दिनों में
जव मानुस और वनमानुस साथ-साथ रहतें थे धरती पर,
कोई भी मानुस; चाहने पर, वनमानुस में वदल जा सकता था।
और कोई भी वनमानुस, मानुस का रूप धर सकता था।
कभी ये मानुस होते थे
और कभी वनमानुसों में वदल जाते थे
और कोई भेदभाव नहीं था।
एक ही भाषा वोलते थे।

यह वह समय था जव शव्द जादू जैसे होते थे (और)
मानुस-मन की माया अपरम्पार थी।
जुवान से यूँ ही फिसल गये किसी शव्द के
अजीवोग़रीब नतीज़े हो सकते थे।
वह एक व एक ज़िन्दा हो उठता
और लोग जो चाहते सो होकर रहता-
वस्, कहने-भर की देर होती।
इसको कोई वूझ नहीं पाया।
यही चलन था तव।

मृगया के मायावी बोल

आ ऽऽ ! . . . आ ऽऽ ! . . . आ मोर हिरना! . . .
अरे! . . . ये तेरी लम्वी टाँगें
अरे! . . . ये तेरे लम्वे कान
अरे ! . . . गर्दन पर झूलते ये तेरे लम्वे-लम्वे वाल-
दूर से तो तू पिद्दा-सा चीलड़ लगता है,
मोरे राजहंस, उड़कर आजा मोरे ढिग,
अन्ना साँड़ की तरह झूमता-झामता - - -
मोरे हि- र- ना ऽऽऽ ! . . .

इस धरती को अपने खुरों से खूँद-
यहाँ, इस धरती पर, जहाँ मैं खड़ा हूँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ढेरों ढेर चारा है तेरी चाहत का,
देख, मैं कव से तेरे लिए रेंडियरों की पसंदीदा
हरी काई लिए खड़ा हूँ, जिसका तू सपना देखा करता था-
कितनी ज़ायक़ेदार ! आ SS ! . . . आ SS! . . . खा SS! . . . खा SS
ओ मोर हिरना! . . .

अरे! . . . अपनी देह को हरकत में ला
टाँगों को आगे-पीछे चला! . . .
और मेरी गोद में आकर समा जा! . . .
देख, मैं कव से खड़ा हूँ यहाँ

तेरी वाट जोहता! . . .
वस्स् - -
तेरे
लिए
आSS ! . . . आ SS ! . . . आ मोर हिरना SS !
आ SS . . . जा SS . . . ! . . .

(एडवर्ड फ़ील्ड के अंग्रेज़ी रूपांतर के आधार पर)

सील मछली के शिकार के मायावी बोल

ओ सागर देवी नुलियाजुक,
जव तू एक नन्हीं अनाथ छोरी थी
हमने तुझे पानी में फेंक दिया।
छप्प् से गिरी तू पानी में
और डोंगी से लटक गई रोते-चीख़ते
तो हमने तेरी अँगुलियाँ काट दीं।
तू सागर में डूव गई और तेरी अँगुलियाँ
अनगिनत सील मछलियों में वदल गई।
ओ प्यारी अनाथ नुलियाजुक,
अव मैं तेरे आगे हाथ फैलाये हूँ
एक भेंट के लिए-
धरती पर की कोई चीज़ मैं नहीं चाहता
बल्कि सागर से निकाल कर दे मुझे एक भेंट,
एक ऐसी भेंट, जिससे स्वादिष्ट शोरवा पकाया जाये।
क्या मैं सीधे-सीधे कहने की हिम्मत करूँ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुझे एक सील मछली चाहिए!
ओ अमोल - नन्हीं - - अनाथ,
पानी में से सरक कर आजा
इस खूबसूरत सागर-तीर
हाँफती हुई--
हूँह्-हूँह्, इस तरह हुमकते हुए, हुँह्-हुँह्
सील मछली की शक्ल में-
तन-मन को जुड़ा देने वाली भेंट बनकर।

(एडवर्ड फ़ील्ड के अंग्रेज़ी रूपांतर के आधार पर)

तीन एस्कीमो गान

अपनी बीवी के बारे में एक बूढ़े आदमी का गान

तब हम मियाँ-बीवी एक-दूसरे को चाहते थे
अब भी चाहते हैं
एक वक़्त था कि दोनों
एक-दूसरे को खूबसूरत लगे थे

मगर कुछ दिन पहले, शायद कल ही
झील के मटमैले पानी में उसने देखा
एक घिनौना चेहरा
मलबे का ढेर बन चुकी एक बूढ़ी औरत का चेहरा
दाग़-दाग़ और झुर्रियाला
मैंने देखा, वह कहती है

कि पानी वाली उस शक़्ल को
दाग़दार और झुर्रियाला
जलपरी ने बनाया

पहले किसी ने देखा था भला वह चेहरा
दाग़-दाग़ और झुर्रियाला?
वह क्या मैं नहीं थी
और अब यह क्या मैं नहीं हूँ-
तुम्हें निहारती हुई?

मर्दों के बारे में, एक औरत का गान

पहले मैंने झुकाई अपनी गर्दन
और धरती की ओर ताकने लगी-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पल-भर तक मेरे मुँह से बोल न फूटा,
लेकिन अब
जब वे जा चुके हैं
मैं अपनी गर्दन सीधी करती हूँ- सामने की तरफ देखते हुए
मैं उत्तर दे सकती हूँ,
वे कहते हैं, मैंने एक मर्द चुराया
अपनी फुफुओं में से एक का मर्द - -
वे कहते हैं, मैंने उस पर हाथ डाला-
        अपना खुद का मंसवा पाने के लिए - - -
झूठ
गढ़ी हुई बात
कोरी तोहमत।
सारा किया-धरा उसका था,
वही आकर मेरी बग़ल में लेटा,
लेकिन वे मर्द ठहरे
यही वज़ह है उनके झूठ बोलने की- - -
और यही मेरी बदक़िस्मती है।

सपना

बीती रात तुम मुझे सपने में दिखाई दीं-
बलुअर तट के स्फटिकों पर तुम चल रही थीं
मेरे साथ,
सपने में, तुम मुझे ऐसे दिखाई दीं
मानों मैं जाया हुआ होऊँ - - -
किसी कमसिन सील मछली-जैसी
खूबसूरत तुम
और तुम्हारे पीछे लगा मैं,
मेरे भीतर तुम्हारे लिए एक शिकारी-जैसी चाहना थी,
पिछुआये जाने की बात जान
डुबकी लगा जाने वाली
एक बहुत कमसिन सील मछली को हासिल् करने-जैसी -
                                        ललक!

ऐसा ही लगा मुझे

(अरमांड श्वेर्नट के अंग्रेज़ी अनुवादों के आधार पर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुवादक- डॉ. हरिश्चन्द्र मिश्र

तीन बाउल गान

I

शुद्ध प्रेम राग में सदा रहो हे हमारे मन
स्त्रोत में शरीर टालने मत दो खेते जाओ ऊँचे
बुझाकर मदन-ज्वाला
अहितुण्ड पर करो खेला,
दोनो देखो उर्ध्व तल्ला,
प्रेम का यही लक्षण।।

एक साँप का दो फणी-
दो मुख से काटता नहीं .
विक्रम प्रेम-बाण से
उसके साथ करो रण

महारस मुदित कमल में,
प्रेम-श्रृंगार में लो खोल,
आत्मा को सम्भालो उस रण-काल में
कहे फकिर लालन

II

जीते-मरने की प्रेम-साधना क्या पा सकोगे तुम।
जिस प्रेम में किशोर-किशोरी गये हैं खो।।
ग्रहण नहीं करता मारता वाण
घोर उफान में तरी खेता उर्ध्व दिक्
ओ उसके काम-नदी में द्वीप बना है
प्रेम नदी में जल भरा।।
चलना निषेध, है चरण,

ये दोनों बाउल गान प्रसिद्ध बाउल लालन फकीर द्वारा रचित हैं। लालन की प्रतिष्ठा बाउलों में अत्यधिक है। गुरु और गोपी कृष्ण युगल प्रेम को उन्होंने अपनी रचनाओं में महत्व दिया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुख है उसे, खाना मना,·
फकिर लालन कहे यह जो कठिन मरण,
वह क्या पा सकोगे तुम

III

जो जन प्रेम का भाव जानता नहीं
उसके साथ किसका लेना देना।।

अन्धा चोर चोरी करता,
घर रहते सेंध लगाता है प्राचीर में,
केवल, वेगार करके मरता
अन्धे के भाग्य में धन मिलता नहीं।।

अन्धा विलार लोभी होकर
दधि समझकर कपास खाता,
गले में फँसाकर छट पट करता,
अन्त में उसका प्राण वचता नहीं।।

निम्ववृक्ष करता है रोपण
शतभार दूध से खींचने पर - -
तव भी क्या उसका स्वभाव होता दूर?
भीतर मिणस घुस नहीं पाता।।

उल्लू का होता उर्ध्व नयन,
वह देखता नहीं सूर्य की किरण,
देखो, चींटी पाती चीनी का मर्मः
रसिक होने पर जाएगा जाना

रचनाकार- दुदुशाह प्रसिद्ध वाउल जो 1850 से 1900 ई. के बीच के माने जाते हैं ये लालन के शिष्य थे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुवादकः पृथ्वीनाथ मधुप

लल्लेश्वरी के दस 'वाख'

[कश्मीरी साहित्य के आदिकाल की पहली तथा सब से महत्वपूर्ण कवयित्री लल्लेश्वरी मानी जाती है। चौदहवीं शताव्दी की इस अत्यन्त जनप्रिय कवयित्री ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए कश्मीरी के मौलिक छन्द 'वाख' को अपनाया। संस्कृत के 'वाक्य' या 'वाक्' शव्द का कश्मीरी करण ही 'वाख' है।

लल्लेश्वरी के 'वाखों' में रहस्यानुभूति एवं दार्शनिकता के साथ-साथ अपने समय की सामाजिक चेतना तथा समाज में व्याप्त विषमताओं तथा अन्याय की वातें भी बहुत ही शिद्दत के साथ हुई हैं। कवयित्री की कविता में पाई जाने वाली प्रतीक-योजना तथा विम्ब विधान एवं इनकी सटीकता अध्येता को वरवस अपनी ओर खींचती है तथा काफी कुछ समझने एवं सोचने के लिए मजबूर करती है।]

I

कच्चे धागे से सागर में
नाव खींचती हूँ अपनी
काश सुने विनती परमात्मा
नौका पार करें मेरी
हालत अपनी कच्ची मिट्टी के-
उस वर्तन जैसी है-
चूस रहा जो पानी, मैं तो-
घर जाने को मचल रही।

II

देवमूर्ति भी पत्थर की है
मन्दिर भी है पत्थर का
ऊपर पत्थर नीचे पत्थर
पूजन कर लोगे किसका?
सुनो अरे पण्डित! छोड़ो यह
अपनी सारी नादानी
एक करो पवन-मन लांघो
अव सरहद आडम्वर की।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

III

दीख रहे हो सौम्य वहुत ही
पर मन विलकुल पत्थर का
सच की ओर कभी भी सुन लो
ध्यान तुम्हारा नहीं गया
पढ़ते-पढ़ते घिसे होंठ
औ' लिखते-लिखते उंगलियाँ
रही वहीं की वहीं तुम्हारे
मन के अन्दर की दुविधा।

IV

जगह-जगह प्राणी-प्राणी में
हर ज़र्रे में शिवशंकर
हिन्दू और मुसलमां में फिर
भेद कर रहे हो क्यों कर?
पहचानो अपने होने को
हो तुम अक़्लमंद अगर
यही असल में उस मालिक से परिचय पाना है सुखकर

V

आई थी मैं 'लल्ला' ऐसे
ज्यों कपास का फूल खिले
खूव गत वना ली मेरी
वेलने और इस धुनकी ने
रगड़-रगड़ औ' अलग-अलग कर
उड़ा दिये रेशे-रेशे
लटका दिया गया मुझ को जव
पहुँची धागा हो करघे पे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

VI

दे पटका पत्थर पर धोबी ने
साबुन-सोड़ा मल साफ किया
दर्ज़ी ने कैंची से फिर मेरे
अंग-अंग को काट दिया
इतनी सहीं यातनाएँ जब
और दशाओं को लांघा
तभी कहीं पहुँच सकी हूँ
परम गति को मैं 'लल्ला'।

VII

पालन किया पढ़ा जो मैंने
खोया वह जो नहीं पढ़ा
सियार की तरह पकड़ जंगल से
शेर को काबू कर डाला
पहले चली स्वयं उस पर मैं
जो औरों को दी शिक्षा
तब ही अपने मंज़िल पहुँची
तब ही मुझ को ज्ञान मिला।

VIII

क्या जाने बाज़ शिकार शेरनी का
क्या जाने बांझ होती क्या ममता
कद्र भला बलते दीपक की जाने क्या-
जलता मशाल-सा लकड़ी का टुकड़ा
मक्खी जाने क्या होता क्या मिटना-
लौ पर, प्रेम पगे परवाने का।

IX

तुम ही आसमान हो तुम ही पृथ्वी भी
तुम ही दिन यह हवा तुम ही हो रात भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तुम ही अर्ध्य चंदन भी तुम ही फूल भी
तुम ही पानी -------- जो कुछ है वह हो तुम ही
जव तुम ही हो सब कुछ तो हे देव! कहो
तेरे आगे भेंट धरूँ मैं तो किसकी?

X

जिसने माना सदा एक-सा
अपना और पराया
राज दिवस में कभी कि जिसने
कोई फर्क नहीं जाना
जो अद्वैत भाव का हरदम
सदा रहा दीवाना
सच में उस सच को उसने ही
देखा औ' पहचाना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ. महेशचन्द्र शांडिल्य

कोरकू जनजाति के मृत्यु गीत

मध्यप्रदेश के सतपुड़ा अंचल में छिंदवाड़ा, बैतूल, होशंगाबाद और पूर्व निमाड़ जिले में, महाराष्ट्र के अमरावती, मोर्शी में कोरकू जनजाति का निवास है। कोरकू मुण्डा समूह की एक प्रमुख जनजाति है। इस समूह की अन्य जातियां मुण्डा, हो, संथाल विहार में निवास करती हैं।

कोरकू संगीत और नृत्य प्रिय जनजाति है। कोरकू जनजाति में मृत्यु गीत गाने की परम्परा रही है। कोरकू महिलाएं मृत्यु भोज एवं सिडोली उत्सव के अवसर पर मृत्यु गीत गाती हैं। स्थान भेद के अनुसार मृत्यु गीतों को कोरकू वोली में मिमलाव, फुलजगनी, गाथा, दशा या सिडोली सिरिंज कहते हैं।

गाथा गीतों में मृतक द्वारा किये गये कार्यों का बखान और उनकी प्रिय वस्तुओं को स्मृति चिन्ह के रूप में गाया जाता है। करुणामय स्वरों में गाये जाने वाले दशा गीतों में प्रयुक्त घरेलू वस्तुओं के प्रतीक कई दार्शनिक अर्थ खोलते हैं।

ग्राम के किसी प्रतिष्ठित व ख्याति प्राप्त कोरकू के मरने पर उसकी स्मृति में काष्ठ स्तंभ "मण्डा" लगाने की परम्परा है। मण्डा स्थापित करने के लिये तिथि निश्चित की जाती है। इस अवसर पर मण्डा स्थापित किये जाने तक, कोरकू महिलाएं दशा गीत गाती हैं।

कोरकू मृत्यु गीत, तीन या चार स्वरों में ही गाये जाते हैं, इसलिये यह ज्ञात करने में कठिनाई ही होती है कि यह गीत किस राग में निवद्ध है। सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि, मृत्यु गीत अधिकांशतः राग भूप, भूपाली के स्वरों में गाये जाते हैं। एक प्रतिनिधि मृत्यु गीत की स्वरलिपि भी तैयार कर मृत्यु गीतों के साथ दी गयी है। जिसमें ध सा रे ग स्वर समूह राग भूपाली का आभास देता है। मृत्यु गीत बिना वाद्य ताल के गाये जाते हैं। मृत्यु गीतों की धुनें मार्मिक होती हैं जो सीधे हृदय में गहरे पैठ करती हैं।

I

हे मां, पिताजी कहां गये हैं, दिखाई नहीं देते?
हे वेटा, तुम्हारे पिताजी ज़मीन में सवा हाथ नीचे गड़े हैं।
हे मां, पिताजी का धन वाला हण्डा कहां है?
हे वेटा, धन वाला हण्डा घर में मुख्य स्तंभ के नीचे गड़ा है।
हे मां, पिताजी के बैल कहां है?
हे वेटा, बैल गोहाल में खूंटे से वंधे हैं।

(प्रस्तुत गीत में पिता के न रहने पर पारिवारिक स्थिति और धन लोलुप पुत्र की स्थिति की अभिव्यक्ति अन्यत्र कहीं देखने को शायद ही मिले।)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

II

हे पिता हँसी-खुशी से आओ, नाचते-गाते आओ।

हे पिताजी। तुम्हारे लड़के- वहू ने ज्वार का घाटा और
चावल वनाये हैं।
तुम्हारे लड़के-वहू ने रोटी और मांस वनाया है।

हे पिता आओ, हँसी-खुशी से आओ।

प्रस्तुत गीत में पर्व-त्यौहार के अवसर पर अपने पूर्वज को न्यौता देकर बुलाने अर्थात् आत्मा के आवाहन का सुंदर चित्रण है।

कोरकू अपने पूर्वजों को सदा प्रसन्न रखना चाहते हैं, इसीलिये उन्हें समय-समय पर बुलाते हैं।

वे पूर्वजों की आत्माओं को कभी भी अप्रसन्न नहीं होने देते, क्योंकि उनके अप्रसन्न रहने से कोरकू परिवार कभी सुखी नहीं रह सकता। यह कोरकुओं की प्रवल अवधारणा है।

III

हे पिताजी रास्ता साफ है

इस रास्ते से आप आना
रोते हुए या गुस्से से मत आना
आप हंसी-खुशी से आना

हे वेटा
मेरी छाती पर वारह गाड़ी मिट्टी और
कूड़ा करकट पड़ा है, मैं कैसे आऊं?
मेरी छाती पर वारह गाड़ी काँटे पड़े हैं, मैं कैसे आऊं?

IV

मेरी मां कितनी निष्ठुर है, जो मुझे अकेला छोड़कर
चली गयी।

मां मुझसे नाराज़ हो गयी है, इसलिये
वह डेढ़तलाई गांव के पास नदी किनारे के
जामुन वृक्ष पर घर वनाकर रह रही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रस्तुत गीत में कोरकू अवधारणा के अनुसार जब तक आत्मा को कोई दूसरा शरीर नहीं मिलता तव तक वह वृक्ष पर रहती है, यह इस गीत में स्पष्ट है।

V

हे सोनाय ! मेरी मां दुर्गम रास्ते से गांव के बाहर आई है,
वह वेर वृक्ष के नीचे बैठी है।

हे सोनाय जा तेरी सास को एक लोटा पानी और
खाने को रोटी-दाल दे आ

मेरी मां बहुत भूखी-प्यासी है।

हे सोनाय, जल्दी जा
कहीं ऐसा न हो कि मां, भूखी-प्यासी ही चली जाये।

कोरकू मृत्यु गीत पूर्वजों, आत्माओं के प्रति गहरी आस्था, सम्मान और उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के सच्चे साधन और आदिम माध्यम हैं, इसीलिये कोरकू मृत्यु गीत किसी भी लोक साहित्य से कम नहीं हैं। जनजातीय गीतों में ठेठ देशज और बोलियों के असरकारी शब्दों के प्रयोग और घरेलू तथा अन्य उपयोगी वस्तुओं का उल्लेख गीतों को विशिष्ट बनाते हैं। यही कारण है कि अपनी मौलिक और निजी शैली में सस्वर गायन के कारण जनजातीय गीतों का अपना अलग स्थान है।

कोरक मृत्यु गीत की स्वरलिपि

यह मृत्यु गीत राग भूपाली के स्वरों पर आधारित है।

ध़ - सा	सा रे रे	रे रे सा	सा सा सा
ए ऽ मा	य डो ऽ	ए ऽ मा	य डो ऽ
ध़ सा रे	रे सा सा	ध़ सा रे	रे सा सा
इं या आ	ऽ बा ऽ	टुं गान ओ	ऽ ले न
ध़ सा रे	रे रे रे	रे रे सा	सा सा सा
हिं गान बां	ग डा गे	मा य मा	ऽ रे ऽ
ध़ सा रे	रे रे रे	ग ग रे	रे सा सा
ए ऽ बे	ऽ टा ऽ	ए बे	ऽ टा ऽ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध़ सा रे	रे सा सा	ध सा रे	रें सा सा
आ मा आ	ऽ वा ऽ	स वा मो	ऽ का ऽ
ध़ सा रे	रे सा सा	ध़ सा रे	रे सा सा
धर ती टा	ऽ ला न	उ कू ए	न ता ऽ
रे रे रे	सा सा सा	सा सा सा	सा सा सा
वे टा मा	ऽ रे ऽ	ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ

कोरकू मृत्यु गीत बिना किसी वाद्‌य के सामूहिक स्वरों में लम्बी टेक में गाये जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अरविन्द त्रिपाठी

सिर्फ 'देह' और 'गेह' के कवि नहीं

अशोक वाजपेयी को सिर्फ 'देह और गेह' का कवि कहना ज्यादती होगी। देखा जाय तो वे समग्र जीवन की अनुभूतियों को शव्द देने वाले कवि है: वे सिर्फ समय विद्ध और समयवद्ध कवि होने के बजाय समय के कभी पीछे, काफी पीछे जाते हैं और फिर अपने समय से आगे जाकर जीवन और समाज के ऐसे प्रश्नों को सामने लाते हैं जो पाठक को चमत्कृत नहीं वल्कि उद्धेलित करते हैं। इसलिए उन्हें समयविद्ध कवि कहने के वजाय कालविद्ध कवि कहना ज्यादा उपयुक्त है। पर उनकी कविता में यह कालवोध कोई आध्यात्मिक या रहस्यवादी प्रत्यय नहीं वल्कि उसका समग्रवोध इहलौकिक, सामाजिक और साधारण जीवन की ही कथा है, उनकी कविता का पाट इसीलिए उनके समकालीनों के मुकावले कहीं वहुत चौड़ा, विस्तीर्ण और गहरा है जिसे लांघने, थहाने में धैर्य की जरुरत है। वे प्रकृति से लेकर मनुष्य, पृथ्वी से लेकर व्रहमाण्ड, माता-पिता से लेकर अज्ञात पितरों, जीवन से लेकर मृत्यु, देह से लेकर प्रेम, एक वच्चे की खोयी गेंद से लेकर जाड़े के दिनों ठिठुरते वीड़ी पीते चौकीदार की हालचाल तक की दुनिया को अपनी कविता के भीतर मौजूद रखते हैं।

देखा जाय तो उनकी काव्यधारा में सिर्फ एक ही तरह का प्रवाह नहीं है वल्कि ऐसे अनेक प्रवाह हैं, जिनका उद्‌गम स्त्रोत हजारों साल की भारतीय कविता में वह रहा है। आज दिक्कत यह है कि उस प्रवाह को या तो हम अनदेखा करने के अभ्यस्त हो चले हैं या फिर चाहते हैं कि यह प्रवाह किसी भी कीमत पर वहे नहीं। क्योंकि यह मान लिया गया है कि उसका वहना कहीं पीछे लौटना है। जवकि कविता की दुनिया में अपनी जड़ों की तरफ लौटना पीछे लौटना नहीं है। अशोक वाजपेयी की खासियत यह है कि वे अपनी कविता में काल और जीवन की इस सनातन लय को कसकर पकड़े हुए हैं। उनका इस काव्य एकाग्रता को परम्परा के नाम पर न तो पुनरूत्थान वाद करार किया जा सकता है और न ही पश्चिमी अस्तित्ववाद की तर्ज़ पर रद्द करार किया जा सकता है। वल्कि उनकी कविता क़ी धड़कनों को सुनने के लिए हमे भारतीय कविता के हजारों वर्षो के इतिहास की यातना और सुख की अनुभूतियों से गुजरना होगा। जिसे कवि वार-वार फूंक कर अपनी कविताओं में, उस दवी हुई आग को आज के समय, समाज, और मनुष्य के भीतर जैसे जलाये रखने की कोशिश करना चाहता है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो अशोक वाजपेयी की काव्यानुभूति की वनावट में सच्ची, खरी और एक सजग आधुनिक भारतीय मनुष्य की संवेदना का योग है। जिसमें परम्परा का पुनरीक्षण और आधुनिकता की खोंज के साथ उत्तर आधुनिक मनुष्य और समाज की भी छानवीन की प्रक्रिया है इस लिहाज़ से आजादी के इन पचास वर्षों की कविता का जव इतिहास लिखा जायेगा तो अशोक वाजपेयी उन थोड़े से हिन्दी कवियों में एक होंगे जिनकी कविता की रुह में भारतीयता की गहरी छाप मौजूद होगी, वहां आपको कविता की परम्परा का सूक्ष्म पुनरीक्षण, काव्यभाषा की परम्परा का अपने समय की कविता में अचूक प्रयोग, अपनी संस्कृति, कला और सभ्यता के प्रति सजग आधुनिक अनुराग और समर्पण की आस्था मौजूद मिलेगी। यह दूसरी बात है कि आज अनेक लोग अशोक वाजपेयी के कवि को समय से वाहर का कवि मानते हैं। क्योंकि उनका कविता समकालीन भेड़चाल की चालू परिपाटी का निषेध करती है। इसीलिए उनकी कविता में समकालीन कवियों का कोरस गान सुनायी नहीं पड़ता, वल्कि एक ऐसे अकेले कंठ की पुकार लगती है जो अपने समाज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digltizagtion by eGangotri

और समय में धंसा जरुर है पर उसका स्वर और अपरिचित लहज़ा अनजाना है। एक ऐसे दौर में जब खबरों को ही समाज का यथार्थ मानकर अधिकांश कवि कर्म नष्ट हो रहा है ऐसे में अशोक वाजपेयी के कवि-कर्म का हस्तक्षेप 'अपनी चाहत और हिम्मत में अकेले होने' की कविता के लिए अभिशप्त दीखता है, सवाल उठता है क्या महज़ खबरों से और समाज-राजनीति की सतह पर तैरता चित्रों से यथार्थ रचकर सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ की दुहाई कविता में दी जा सकती है? जब कि सच्चाई यह है कि कविता किसी अखबार की ताज़ा खबर नहीं है जो अभी-अभी पढ़ी जाय और अभी नष्ट मान ली जाय।

इसीलिए गौर करने की बात है कि अशोक का काव्य-बोध एकायामी नहीं बल्कि बहुयामी है। वे सिर्फ सामाजिक संघर्ष की जद्दोजहद में फंसे कवि नहीं है बल्कि जीवन के अनछुए अनुराग, अनदिखे अंधकार और अधखिले फूलों के साथ, उन मुरझाये फूलों को भी प्यार करने वाले कवि हैं जिन्हें लोग प्रायः नहीं देखते। कहना चाहिए इसीलिए उनकी कविताएं हमें लुभाती है और विवश करती हैं कि उन्हें बार-बार पढ़ा जाये।

समकालीन काव्य-परिदृश्य पर गौर किया जाय तो अशोक वाजपेयी एक महत्वपूर्ण और दुर्लभ कवि इस मायने में है; क्योंकि, उन्होंने अपनी कविता के लिए हमेशा एक नयी जमीन, वह जमीन का एक छोटा टुकड़ा ही क्यों न हो, की खोज जारी रक्खी है। ध्यान दिया जाय तो उनकी कविता के मुख्य सरोकार हैं- जीवन, प्रेम और मृत्यु शायद ये तीन विषय ही मुख्य रूप से उनके काव्यसंसार और काव्य यात्रा में शामिल हैं। अब तक लिखी उनकी कविताओं का हिसाब लगाया जाय तो सौ से ऊपर कविताएँ प्रेम, जीवन और मृत्यु पर अलग-अलग लिखी गयी है, जिनको पढ़ते हुए आप प्रेम और मृत्यु जैसे विरोधी जीवन सत्यों को एक साथ अनुभव कर सकते है: उनकी कविताओं को पढ़ते हुए आप पायेंगे कि जितना प्रिय उन्हें प्रेम करना लगता है, उतना ही प्रिय मृत्यु का वरण करना भी। यानी उनकी कविता के एक छोर पर प्रेम है तो दूसरे छोर पर मृत्यु है। बीच में जो जगह है वहीं है- यह समाज जहां अशोक का आदमी लड़ता-भिड़ता विजयी और पस्त होता जीवन जगत से संवाद करता है।

आश्चर्य होता है कि इधर के कुछ आलोचकों ने अशोक को श्रृंगार सम्वेदना का सिद्ध कवि कहना शुरु कर दिया है। पर विचार करने की जरुरत है कि अशोक की प्रेम और स्त्रीदेह पर केन्द्रित कविताओं के आधार पर उन्हें श्रृंगारी परम्परा का सिद्ध कवि ठहराया जा सकता है? क्या उनकी प्रेम कविताओं में रीतिकालीन श्रृंगार परम्परा की उन सरणियों की खोज संभव है जिनमें हिन्दी की समूची मध्यकालीन कविता नायिका भेदो के रहस्य में डूबती और उतराती रही है? जिसका आधुनिक जमाने में आचार्य शुक्ल ने जमकर धज्जियां उड़ायी है, वे बिहारी, देव पदमाकर या घनानंद ही क्यों न हों, अगर अशोक वाजपेयी की प्रेम संवेदना और देह के प्रति सौन्दर्य बोध का यह रुझान रीति कालीन है तो कहना पड़ेगा प्रेम और स्त्री के बारे में उनका ख्याल मध्यकालीन और सामंती है। जहां प्रेम की अभिव्यक्ति संभोग की मांग है और देह की स्मृति सुख शैय्या है।

जाहिर है श्रृंगार, प्रेम, रति और देह-सौन्दर्य के प्रति ऐसा स्थूल आग्रह अशोक वाजपेयी के कवि-कर्म में नही है बल्कि वे परम्पारिक श्रृंगार के बजाय विशुद्ध सौन्दर्य बोध और प्रेम के दुर्लभ कवि शमशेर जैसे ही हैं वे नायिका से प्रेम करते वक्त श्रीकांत वर्मा की तरह स्त्री से बदला लेने का प्रतिशोध नहीं रखते, बल्कि उसके प्रति अनन्य अनुराग भरे हृदय से अपने को समर्पित करने का भाव रखते है: प्रेम में समर्पण का यह भाव उनकी काव्य यात्रा में शुरु से लेकर अब तक वर्तमान है। शुरु में उनका प्रेम किशोर-आवेग की गर्माहटों से भरा हुआ है- ''एक जीवित पत्थर की दो पत्तियां, रक्ताभ, उत्सुक, कांप कर जुड़ गई, मैने देखा: मैं फूल खिला सकता हूं (पहला चुम्बन : 1960) एक दूसरा उदाहरण दूसरे दौर की प्रेम कविताओं से- ''तुम्हारे हाथ के झिझकते स्पर्श से, तपते हुए, मैं अपने संसार में, सब कुछ वैसे ही रक्खूंगा, सिर्फ वह हाथ, जहां भी रक्खा जायेगा, वहां तुम्हारे हाथ की आंच की ही सरहद होगी ★★★ उसके हाथ की गुनगुनी धूप, उसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हाथ का झिझकता अंधेरा ★★★ उसके हाथ अकेले, उसके हाथ डूबे हुए स्वप्न में, उसके हाथ, करते हैं प्रतीक्षा हाथों की" (हाथ2 और 3 : 1989)

इन उदाहरणों से साफ जाहिर है कि अशोक की प्रेम यात्रा में समर्पण, सम्मोहन का जादू अभी उतरा नही है वल्कि कहना चाहिए पहले उनमें प्रेम करने की जो झिझक थी वह अब लगभग निवर्सन हो गयी है। प्रेम का यह निवर्सन भाव जिसमें अव प्रतीक्षा ही नही है, वल्कि एक उद्दाम कामोद्धेग है। यह प्लेटोनिक प्यार नही है वल्कि नितांत शरीरी, मांसल और ऐन्द्रिक प्यार है। प्रेम की ऐसी उद्धेग भरी चाहत शमशेर की उत्तरवर्ती कविताओं में भी दिखती है जहां कवि काल से होड़ लेते हुए अपने भीतर उद्दाम प्रेम की लालसा छिपाता नही वल्कि निवर्सन करते हुए प्रकट करता है- "तुमको पाना है अविराम, सव मिथ्याओं में, ओ मेरी सत्य, मुझसे दूर अलग न जाओ, मुझको छोड़ न दो, कहीं मुझको छोड़ न दो, तुम्हें मेरे प्राणों की सौगंध जाओ, किन्तु मुझ में वसकर, सुगंध की तरह, मेरे साथ, मैं हवा की तरह अदृश्य ही जव हो जाऊं, जहां कहीं जाओ ★★★ मलूंगा मैं वह्म से तुम्हारे, अपने जीवन का समस्त वक्षस्थल, लिपटूंगा मैं अंग-अंग से तुम्हारे, मधुरतम सुवास वन" (तुम को पाना है अविराम)

अगर शमशेर और अशोक की कविता पर एक साथ दृष्टिपात किया जाय तो कई एक समानताएं काव्यानुभूति के स्तर पर दिखायी पड़ेगी। सौन्दर्य और प्रेम के प्रति दोनों कवियों के रुझान और दृष्टि में भी गहरी समानताएं हैं। पर मेरी दष्टि में नयी कविता के इतिहास में शमशेर के निकट यदि कोई कवि वहुत पास खड़ा है, समकालीन कविता में शमशेर की कविता की परम्परा का सूत्रपात कर रहा है तो इस साक्ष्य को पाने के लिए भी अशोक वाजपेयी की कविता से गुज़रना एकं दिलचस्प अनुभव हो सकता है।

अशोक वाजपेयी अपने कवि कर्म के वारे में स्वीकार करते है कि "कविता लिखने की मेरी वुनियादी सम्वेदना, संसार को छूने की है··· स्पर्श मुझे वहुत आकर्षित करता है और उसके प्रति मैं वहुत चौकन्ना भी हूं··· मैंने दुर्भाग्य से जो रास्ता चुना वह दूसरा रास्ता है। यह रास्ता ऐन्द्रिकता के खुले स्वीकार का रास्ता है. मैं एक व्यक्ति हूं और मैं संसार को छूना चाहता हूं और कविता में छूने की एक मात्र विधि उसे ऐन्द्रिक स्तर पर पाने की है- यह ऐन्द्रिकता चाहे प्रेम की हो, चाहे मृत्यु की " (साक्षात्कार : जनवरी मार्च 1995 पृ. 654) इस वक्तव्य को अगर अशोक वाजपेयी की कविता पर लागू किया जाय तो यह वात सही ठहरती है कि वे प्रेम, सौन्दर्य और मृत्यु के दुर्लभ कवि इस माने में ज्यादा ठहरते हैं कि उनमें अनुभूति के स्तर पर प्रेम और मृत्यु की गहरी छाप है। फलतः उनकी अभिव्यक्ति में गहरी ऐन्द्रिकता, मांसलता और अशरीरता टपकती है. इसका सीधा कारण यह भी है कि उनमें गहरा और तेज आवेग है। पर वे भारती की तरह शयीन्रोमांस के कवि नही हैं, उन्हें जितना जीवन का रोजमर्रा अनुभव लुभाता है, जितना प्रेम और सौन्दर्य का ऐन्द्रिक भाववोध टीसता है, उसी स्तर पर उन्हें मृत्यु की संवेदना आकृष्ट करती है। इसलिहाज से अशोक के काव्यसंसार में पाठक का प्रवेश एक रोमांचक अनुभव है, जव वे अपनी कविता में एक साथ जीवन-मृत्यु और प्रेम का सनसनीखेज वर्णन करते है। उनकी कविता में जीवन और मृत्यु के अंतःसघर्ष की जितनी गहन, मार्मिक ओर वेचैन कर देने वाली अभिव्यक्तियां दर्ज है, शायद मृत्युवोध के लिहाज से वे निराला, श्रीकांत के वाद तीसरे ऐसे कवि हैं जिनकी कविता में जीवन और मृत्यु की छाया एक दूसरे पर अपनी परछाई डालकर साथ-साथ डोलती है। प्रेम के व्ररक्स मृत्यु से इतना प्यार करने वाला हिन्दी में शायद ही दूसरा कोई कवि हो जो मृत्यु को किसी प्रेमिका की तरह गले लगाता है, हो सकता है मृत्यु अशोक वाजपेयी की अंतिम महवूवा हो जिसे पाना उनके लिए शोक का विषय नही वल्कि जीवन की एक 'हर्डल रेस' का तरह है- "दस्तक होगी दरवाजे पर, और वह कहेगी कि, चलो तुम्हारा समय हो चुका, कोई नही जानता कि, कितना समय और वचा है, मेरा या तुम्हारा, ★★★ वह आयेगी, जरुर, पर उसके आने के लिए, कितने दिन और वचे हैं, कोई नही जानता". (कितने दिन और वचे हैं?)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मृत्यु और अनुपस्थिति पर विचार करते हुए अशोक वाजपेयी का कहना है "मरना जीने का समापन नहीं है। अक्सर हम जीते-मरते साथ ही साथ हैं। हम जीवन में आगे बढ़ते हैं पर मृत्यु की ही ओर, भले हमें ऐसा न लगता हो''' हम जीते हैं क्योंकि हम याद करते हैं, कर पाते हैं : जो नही है उससे जो था हम याद से ही जोड़ पाते हैं। स्मृति से ही जो अनुपस्थित है वह उपस्थित हो जाता है". जो नही है की भूमिका से दर असल जीने और मरने का अहसास कामना का अंधेरा और उजाला है। अशोक वाजपेयी की कविता में जो अंधेरा है वह मृत्यु का ही अंधेरा है हालांकि उनकी ज्यादातर कविताएं जीवन में अंधेरे की बात नहीं करती। भले ही आज हमारे जीवन में कितना अंधेरा क्यों न हो। वे जीवन में उल्लास, हर्ष, की छवियों को इसीलिए वार-वार चित्रित करते हैं- जैसे उनका कविता जीवन का उत्सव हो। गौर किया जाय तो उनकी मृत्यु और अनुपस्थिति मूलक कविताओं पर भारतीय चिंतन-परम्परा की गहरी छाप है। भारतीय दर्शन में मृत्यु जीवन का अंत नहीं वल्कि जीवन का परिवर्तन माना गया है। इसीलिए मृत्यु हमारे यहां शोक का विषय नहीं बल्कि सृष्टि के संहार का क्षण माना गया है। भारतीय चिंतन में वुद्ध के दुखवाद की अवधारणा को अलग कर दिया जाय तो हमारे यहां मृत्यु विलाप का विषय नही।. भगवत गीता का कर्मवाद शोक के निषेध का ही एक महाकाव्य है। जव कि पश्चिमी अवधारणा में जीवन में मृत्यु का होना एक मनुष्य के जीवन की सम्पूर्ण सभावनाओं का अंत है। इसीलिए वहां मृत्यु हमेशा शोक का विषय रहा है। शायद इसीलिए पश्चिमी समाज में आत्म हत्याएं सवसे ज्यादा है। यह आकस्मिक नहीं है कि पश्चिम का आधुनिक साहित्य स्वाधीनता, स्त्री और मृत्यु से लगातार जूझता रहा है। मृत्यु को लेकर इसीलिए वहां भय की थीम को सवसे ज्यादा तरजीह दी गयी।

अशोक वाजपेयी की मृत्य वोध पर केन्द्रित कविताओं से गुजरते हुए पाठक को इस बात की आश्वस्ति मिलती है कि कवि का मृत्यु से रूख पलायन का नहीं बल्कि नंगी, वेलौस भिड़ंत का है। वह काल के आगे निरूपाय तो है पर काल के आगे गिड़गिड़ाता नहीं, बल्कि निर्भय होकर उसकी कही प्रतीक्षा करता है, तो कहीं चुनौती देता है। अशोक की कविता में जो वहुत सा उजाला है वह मृत्यु से वाहर आकर जीवन की खोज है। काल से होड़ लेने की अशोक की यही जिद उनमें शमशेर जैसी दुर्लभ जिजीविषा पैदा करती है। इन्हीं दिनो, मौत कही ट्रेन में दिदिया, पिता के जूते, फिर घर, दिवंगत मा के नाम पत्र, वहुरि अकेला शीर्षक से कुमार गन्धर्व की कविताएं, कितने दिन और वचे हैं, अंत के वाद, शरण्य, आवृत्ति, एक खिड़की, बची हुई, दुख का शिल्प, यही वचता है जैसी कविताएं जीवन में मृत्यु और मृत्यु में जीवन की खोज है। चूंकि मृत्यु दर असल देह की अनुपस्थिति है। इसीलिए इन कविताओं का स्थायी भाववोध स्मृति है। इन स्मृतियों में दिवंगत मां, पिता, वहन, मित्र स्वजनों की वहुत मार्मिक छवियाँ है, अवसान और अनुपस्थिति की इन छवियों की एक खास विशेषता है- कवि का दिवंगत आत्माओं से गहरा लगाव, कवि दिवंगत पिता से प्यार ही नहीं करता वरन उनके छूट गये जूतों से भी उतना ही लगाव व्यक्त करता है। यहां दिदिया (यानी मां) की मौत, पिता के जूते, दिवंगत मां के नाम पत्र जैसी कविताओं की पठनीयता पाठक को शोक और प्रेम से अभिभूत कर देती हैं-

"एक पैतृक वृक्ष है, नीले अनंत के किसी ढहते हुए चवूतरे के पास, छाया हुआ जड़ हीन, और उसके पीछे रक्खे हैं वे काले जूते, मरे हुए चमड़े के, कुछ पसरे हुए जीवित पैरों के दवाव से, जो अव नही हैं, पैर नही है और न ही वह आदमी, जो उन्हें उस कोने में रखकर, चुपचाप चला गया, किसी ओर चवूतरे पर वैठकर आगे की यात्रा तय करने के लिए ★★★ जूते कोशिश करके भी याद नही कर पाते, उन पैरों को जो उनमें थे, वे सपना देखते हैं नन्हें पैरों का, जिनके लिए वे हमेशा वड़े सावित होंगे"। (पिता के जूते)

"व्यर्थ के काम काज में उलझे होने से देर हो गयी थी, और मैं अंतिम क्षण तुम्हारे पास नही पहुंच पाया था, तुम्हें पता नही उस क्षण सव कुछ से विदा लेते, मुझ अनुपास्थित से भी विदा लेना याद रहा था या नही, जीवन ने वहुत अपमान दिया था पर कैंसर से मृत्यु ने भी, पता नही क्यों तुम्हारी लाज नही रक्खी थी ★★★

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक बूढ़े मठ में अकेला वैठा मैं एक अधेड़ कवि, तुम्हारा बड़ा वेटा, जिसकी अधेड़ आयु में तुम्हारी आयु जुड़ रही है, जिसके समय में तुम्हारा समय, रक्त में तुम्हारा उत्ताप, जिसकी आत्मा के अंधेरे में तुम्हारा वत्सल उजाला, यह पवित्रता जो मुझे वलात झुका रही है। यह निर्जनता जो अन्तर्ध्वनित है वंदना से ★★★ मैं इन सव को तुम्हारा नाम देता हूं- दिदिया" (दिवंगत मां के नामपत्र)

इन दोनों उद्धरणों की काव्य पंक्तियों पर गौर करें। यहां पिता और मां के दुखद अवसान से उपजे शोक को कवि ने वहुत सहानुभूति और मार्मिक उष्मा के साथ पकड़ने की कोशिश की है। पिता को याद करने का माध्यम उसके छूट गये चुपचाप मरते जूते हैं जो अव पिता की अनुपस्थिति के प्रतीक हैं, दर असल मृत्यु से वाहर आने की यह कोशिश ही अशोक की मृत्यु वोध सरीखी कविताओं को गहरी उम्मीद की कविता वनाती है। यानी मृत्यु के वाद भी एक उम्मीद है- जीवन में, कहना न होगा जीवन के प्रति यह गहरी उम्मीद अशोक के कवि कर्म की उपलब्धि है। उदाहरण के लिए वच्चे शीर्षक कविता की ये पंक्तियां प्रमाण मानी जा सकती हैं- "वच्चे गा रहे हैं चट्टान के पार से, नीले से परे, आराम करते पुरखों को पुकारते हुए, वच्चे फेंक रहे हैं, एक गेंद, मृत्यु के पार, इस उम्मीद में कि पिता, वापस भेजेगें वच्चे उड़ा रहे हैं, एक पतंग, अनंत में, जानते हुए कि मां, उसमें खिलौने लटाकर लौटायेगी, वच्चे खेल रहे हैं, अपने निरन्तर होने, अमर होने का एक अंत हीन खेल, पुरखों के साथ, और मृत्यु को पराजित करते हुए, वच्चे गा रहें" (वच्चे)

ये वच्चे जीवन की नयी उम्मीद के प्रतीक हैं। गेंद और पतंग जीवन में उल्लास के प्रतीक हैं अशोक वाजपेयी ने इन कविताओं.-------से उपजे मृत्यु शोक को कम करने के लिए ------- जीवन के उल्लास को जिस तरह जगह-जगह चित्रित करने की कोशिश की है, वह मृत्यु जनित शोक का उपहास नही वल्कि पाठक के मन में मृत्यु शोक की लय को थोड़ा कम करके उसे फिर जीवन में एक नयी उम्मीद जगाने का यत्न है- वे कहते हैं- "जो जाता है, थोड़ा-थोड़ा हमें भी ले जाता है, और इसीलिए कभी, पूरी तरह से नही जाता (वहुरि अकेला) इससे वचने का एक ही रास्ता है- उम्मीद. अशोक मृत्यु में भी जीवन की वची हुई उम्मीद चुनते हैं।

मृत्यु की तरह प्रेम और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति देने में अशोक वाजपेयी को महारत हासिल है, इस लिहाज से भी देखा जाय तो वे अपनी पीढ़ी के दुर्लभ कवि के रुप में उपस्थित हैं। गौर किया जाय तो अशोक की कविता की मुख्य जमीन प्रेम और सौन्दर्य ही है। जिसे अव श्रृंगार कहा जा रहा है। प्रेम और सौन्दर्य को ले कर ऐसा गहन आवेग और रागमयी गर्माहट उनके अन्य समकालीनों में विरल है। उनका प्रेम कविताएं देखी जाय तो वे प्रेम कविताओं के किंचित अकाल के दौर में समकालीन कविता की एक दुर्लभ उपलब्धि है। उनकी पीढ़ी के अनेक कवि जव क्रांति की धंधई में लगकर ऐंटी-रोमेंटिक होने का स्वांग भर रहे थे ऐसे में अशोक ने लगभग खतरा उठाकर प्रेम कविताएं लिखने का जोखिम उठाया।

उनकी प्रेम कविताओं में समर्पण, सम्मोहन, आलिंगन, रति स्मृति तो है ही साथ ही सवसे ज्यादा प्रतीक्षा का भाव है जो उनकी प्रेम कविता को अर्थवान वनाता है। अपनी शेष शीर्षक कविता में वे स्वीकार करते हैं- "सव कुछ वीत जाने के वाद, वचा रहेगा प्रेम ★★★ गर्मियों में सूख गये झरनों की चट्टानों के वीच, जड़ों में धसी नमी सा वचा रहेगा, ------अंत में प्रेम" (शेष)

उसकी आवाज में जैसी कविता उनके निर्मल और अचूक सौन्दर्य वोध के साथ प्रेम में स्मृति की एक दुर्लभ कविता है। ऐसी कविताएं हिन्दी में इधर असंभव नही तो विरल जरुर है जहां कवि प्रेम सी काया की अपेक्षा उसकी आवाज से सम्मोहित होता है, खास तौर से प्राकृतिक उपादानों से निर्मित यह कविता अशोक की काव्यकला का भी वेहतर उदाहरण है- "उसका आवाज में आने वाले फलों की, कसमसाहट है, उसकी आवाज अलसाई हुई है आम्र मंजरियों से, उसकी आवाज, देती है सुगंध से, सुनसान को, उसकी आवाज में वजते हैं अनंत के नुपूर" (उसकी आवाज में)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अशोक वाजपेयी के कवि कर्म पर दृष्टिपात करते हुए यह अक्सर आरोपित किया जाता है कि वे संघर्ष विमुख, समाज निरपेक्ष और द्वन्द्वहीन कवि हैं शायद ऐसे आरोप वे लगाते हैं जो उन्हें मार्क्सवाद का विरोधी मानते हैं। जब कि सच्चाई यह है कि वे मार्क्सवाद के विरोधी नही वल्कि श्रीकांत वर्मा की तरह वे भी मार्क्सवाद से असहमत कवि हैं। सवाल उठता है क्या मार्क्सवाद से असहमति रखना जीवन विरोधी, समाज विरोधी होकर घोर व्यक्तिवादी और कलावादी होना हैं? क्या कविताओं के आधार पर अशोक वाजपेयी के कवि को जन विरोधी, समाज विरोधी ठहराया जा सकता है? जाहिर है इन प्रश्नों का जवाव देना उनके किसी भी विरोधी के लिए कठिन होगा। क्योंकि उनकी कविता का मुख्य सरोकार मनुष्य ही है। हालांकि अशोक मध्यवर्गीय संवेदना के कवि हैं। पर उनकी कविताओं में मध्यवर्ग के साथ साधारण लोगों की आवाजें भी शामिल है, मैं नही समझता कि वहां कहीं किसी अभिजन मनुष्य या अभिजन समाज का महिमा मण्डन है। उनकी सामाजिक कर्म की कविताओं में प्रवेश किया जाय तो एक ऐसी दुनिया दिखायी देगी जो आज मूल्यों के क्षरण से छिन्न-भिन्न और असमान व्यवस्था की दुरभिसंधि के चलते अंग-भंग हो गयी है। ऐसे शिकार लोगों की जितनी मार्मिक व्याख्या अशोक की कविता में मौजूद है इसे अगर आप उनके सामाजिक कर्म की कविता नहीं मानते तो वात दीगर है। वर्ना उनके काव्य संसार में सैकड़ों ऐसे प्रतीक, बिम्व, उपमान और दृश्य दिखायी देंगे जिन में साधारण मनुष्य की पुकार सुनायी पड़ती है। यह सच है कि वे साधारण समाज और मनुष्य के प्रतिवद्ध कवि नही हैं, पर इससे यह सिद्ध कत्तई नही होता कि उनकी कविता साधारण मनुष्य और समाज के विरोध में खड़ी होकर आत्मरति की अभिव्यक्ति कर रही है।

उनकी कविता में साधारण जन की आहटें देखने योग्य हैं। [मसलन वहां, प्रेम में विह्वल एक वुढ़िया अपनी गुदड़ी से तोते द्वारा खाये फल अपनी नातिन को दे रही है, घंटी वजाते अपनी सायकिल पर चिट्ठियों और पैकटों को लादे वेतहाशा भागता डाकिया है, जंगल में कंडे और लकड़ियां वीनती वुढ़िया है और उसकी झोपड़ी में विना रसोइये के खुद वुदाती दाल है, जलधि पर तैरता, पत्ते पर लेटा अंगूठा चूसता शिशु है, वाजार में वहिया विछाकर हिसाव करते साहूकार हैं और दूसरी तरफ आधा किलो कुम्हड़ा तौलता कुंजड़ा है, अल्ल सुवह अपने दुख को टोकरी में भरकर ले जाता एक आम आदमी है जो सब्जी मंडी जा रहा है, वहीं पनाले के किनारे वैठा एक गरीव अनाथ वच्चा है जो गिलास में दूध भर कर पीने के वजाय अपना दुख पी रहा है। एक दूसरा वच्चा भी है जो ढ़ावे की मेज पर अपना जांगर पेरते हुए अपना वचपन नष्ट कर रहा हैं। नींद के आखिरी आगोश में जाने से पहले एक वुढ़िया के वगल में रक्खी पानी से भरी कटोरी है जिससे गर्मी से झुलसी चिड़िया अपनी प्यास वुझायेगी। एक किसान के घर में पुरखों के पैरों की घिसी हुई चप्पलें हैं, सर्दी के दिनों में ठिठुरते वीड़ी पीते चौकीदार की आवाज है, इन चेहरों, दृश्यों में साधारण जन की ही जिंदगी वोलती है, जो अशोक के काव्यात्मक सरोकारों को स्पष्ट करते हैं।

देखा जाय तो शहर अव भी संभावना है (1966) के कोई अठारह वर्षों वाद अशोक की कविता का दूसरा दौर आरंभ हुआ तो उनकी कविता में तीव्र वदलाव आया, इस वदलाव में उनकी सामाजिक चेतना का हिस्सा कम महत्वपूर्ण नहीं है जो क्रमशः लगातार विकसित हुई है। उनकी सामाजिक कर्म की कविता का मुख्य सरोकार है- क्रांति की विफलताओं और चरम अमानवीयता के दौर में मनुष्य की अस्मिता को वचाये रखने की कोशिश। इस कोशिश में अशोक अपनी सामाजिक कर्म की कविताओं में क्रांति की हड़वड़ी और युवा मन की नाराज मुद्रा आख्तियार करने के वजाय समाज में मनुष्य के विवेक को वहुत विनम्र होकर वाणी देते है। उनकी कविता का तापमान इसी लिए ठहरा लगता है पर उसमें अज्ञेय या प्रयाग शुक्ल जैसा अकेलापन नही है वल्कि वहां वहुत सारी आवाजों का शोर है। अशोक खुद स्वीकार करते हैं कि ''मेरी अधिकांश कविताएं दरअसल व्यक्तियों को संवोधित है कुछ व्यक्तियों को उन पन्नों की तरह जिन्हें मैं भेज नही पाया। लगभग सारी कविताएं इस मामले में अंकिजण्ड हैं, जहां तक मानवीय उपस्थिति का प्रश्न है मैं कभी भी निरे निपट, सुनसान और एकांत में लिख नही सकता। मुझे शोर गुल चाहिए, आसपास के लोगों की आवाजें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहिए और यदि ये न भी हो तो मेरा मन अपनी स्मृति से ऐसी आवाजें रचता है" (साक्षात्कार : जनवरी मार्च 1995)

अशोक की कविता में यह मानवीय हस्तक्षेप बराबर दिखायी देता है। कहीं वे मानवीय दुख को करुणा में बदलते हैं तो कहीं अवसाद में शायद इसीलिए अशोक अपनी अनेक कविताओं में दुख और संघर्ष के मोर्चे पर लड़ते इस आदमी को बचाये रखने की कोशिश करते है। वे कहते है : 'अगर बच सका, तो वही बचेगा, हम में थोड़ा सा आदमी' इस आदमी को बचाने के लिए अशोक वाजपेयी का काव्य संघर्ष उतना ही महत्वपूर्ण है- जितना उनका समकालीन, परवर्ती या पूर्ववर्ती पीढ़ी के अनेक प्रतिबद्ध कवियों का काव्य संघर्ष। इस लिहाज से छोटी सी दुनिया, कुछ तो, आना, सड़क पर एक आदमी, वह आदमी, दुख, लड़ाई ऐसे जैसे, बेखबर ऐनवक्त पर, कुछ देर के लिए मुझे चाहिए, वे बच्चे जैसी कविताएं खासतौर पर पठनीय है जहां कवि का सामाजिक सरोकार प्रकट होता है।

इस तरह वे समकालीन काव्य यथार्थ की बनी बनायी रुढ़ियों, प्रचलित रास्तों को छोड़कर अपनी राह बनाकर उस पर चलने की जिद रखने वाले निर्भय कवि हैं- ऐसा करते हुए वे भवभूति में अपनी काव्य नियति ढूँढ़ते है : जैसाकि मुझे चाहिए कविता में वे दुनिया के अभिशप्त लोगों की जिंदगी बदलने के लिए एक लालटेन की रोशनी के बजाय धधकता हुआ सूर्य चाहता है- "इस जरा सी लालटेन से नहीं मिटेगा, मेरा अंधेरा, मुझे चाहिए, एक धधकता हुआ ज्वलंत सूर्य" बड़ी बात यह है कि आज समाज में फैली हुई विषमता को दूर करने के लिए जब राजनीति और विचार में सारे विकल्प शून्य नजर आ रहे है, ऐसे में कवि को विश्वास है कि समाज में कविता ही अंततः -------अंतिम विकल्प के रुप में शेषहै जो आज आदमी और समाज को साहस के साथ जीने का संकल्प दे सकती है ----- कवि का यकीन है कि कविताएं साथ देंगी- 'मैं अपने खाली हाथ, और भरा हुआ हृदय लिये लौट जाऊंगा, अपने अंधेरे में, जहां कविताएं दियों की तरह, जलता बुझती रहती है'

देखा जाय तो यही विश्वास अशोक वाजपेयी के कवि कर्म का सच है। जो अपनी चाहत में हमेशा की तरह अकेले, हिम्मत में अकेले, गोधूलि में अकेले अपने को पाते हैं। और कहते है 'मुझे यह समय भी चाहिए पर इसी के पड़ोस में अपना अतीत भी चाहिए। पड़ोस की कल्पना मेरी कविता के भूगोल का एक अनिवार्य हिस्सा है' (वक्तव्य साक्षात्कार : जनवरी मार्च 1995)

समीक्ष्य पुस्तकें:
तिनका तिनका: खंड -I, II
कवि: अशोक वाजपेयी
प्रकाशक: प्रवीण प्रकाशन, 1/1079 ई, महरौली, नई दिल्ली 110030.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रिपोर्ट

दिनेश बंसल

भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर (राज.)

देवीलाल सामर लोक कला प्रशिक्षण संस्थान
ग्रीष्मकालीन लोक कला प्रशिक्षण शिविर

आरम्भ से ही भारतीय लोक कला मण्डल द्वारा देवीलाल सामर लोक कला प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना का मूल उद्धेश्य यही रहा कि संस्थान के माध्यम से लोक कलाओं के विशुद्ध प्रकारों का प्रशिक्षण जिज्ञासुओं को प्रदान किया जाये। यद्यपि कला-मण्डल के वरिठ एवं कुशल कलाकारों द्वारा पारम्परिक कलाओं का प्रशिक्षण विगत कई वर्षों से दिया जाता रहा है परन्तु वर्तमान सांस्कृतिक प्रदूषण एवं पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण के दौर में नवीन पीढ़ी को भारतीय संस्कृति से जोड़े रखने में देवीलाल सामर लोक कला प्रशिक्षण संस्थान महत्ती भूमिका निभा रहा है। इन शिविरों में भारतीय लोक नृत्य, लोकगीत एवं वादूयों के साथ ही कठपुतली तथा लोक चित्रावली का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके वहुत सकारात्मक परिणाम प्राप्त हो रहें है एवं उत्तरोत्तर प्रशिक्षणार्थियों की संख्या में वृद्धि हो रही है।

इस वर्ष संस्थान में तीस दिवसीय शिविर 1 मई से 30 मई व 1 जून से 30 जून तक आयोजित किये गये। इसके अलावा स्थानीय मूमल कला संस्थान के संयुक्त तत्वावधान में एक शिविर मूक-बधिर वालकों के लिये भी आयोजित किया गया जिसमें श्री रामगोपाल कुमावत इन मूक-वधिर बालकों के साथ नवीन प्रयोग कर उन्हें नृत्य प्रशिक्षण प्रदान कर रहे हैं परिणाम स्वरूप इन वालकों में नवीन उत्साह एवं उमंग का संचरण हो रहा है और इनकी मनो-कुंठाएं कम हुई है।

प्रथम शिविर का समापन समारोह अपनी रंगीन प्रस्तुतियों के साथ 31 मई को कला मण्डल के मुक्ताकाशी मंच पर सम्पन्न हुआ। स्व. देवीलाल सामर की तस्वीर पर माल्यार्पण के पश्चात् कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए कला मण्डल के मानद सचिव श्री रियाज तहसीन ने कहा कि प्रशिक्षणार्थियों को चाहिये कि वे शिविर के बाद भी संस्थान से निरन्तर सम्पर्क में रहे और अन्य वच्चों को भी प्रेरित करें। मुख्य अतिथि श्री विनोद शर्मा, महा प्रवंधक, लक्ष्मी विलास पैलेस होटल ने अपने संक्षिप्त उद्बोधन में कहा कि इलेक्ट्रोनिक युग में भारतीय लोक कलाओं को संरक्षण देने और उसे नवीन पीढ़ी तक हस्तान्तरित करने के लिये जो प्रयास कला मण्डल द्वारा किये जा रहे है वे सराहनीय है। विशिष्ट अतिथि श्री सम्पत वापना ने विश्वास व्यक्त किया कि भारतीय लोक कला मण्डल विभिन्न अंचलों में इस प्रकार के शिविरों का आयोजन करेगा ताकि अन्य स्थानों के बालक-बालिकाऐं भी इससे लाभान्वित हो सकेंगे।

सांस्कृतिक कार्यक्रम का आरंभ भारत माता वन्दना की नृत्यमय प्रस्तुति के साथ हुआ। शिविरार्थियों ने"साजन वेरिया रे", "लागी रे लागी याणे कुण की नजरिया लागी", "आदिवासी भील नृत्य" शंकरिया, पायल वाजे सा एवं काल वेलिया आदि नृत्यों को कुशलता से प्रस्तुत किया। इनका प्रशिक्षण नृत्य निर्देशक श्री ओम कुमावत ने दिया। संस्थान की नृत्यांगना श्रीमती मंजुलता ने गुजरात का गरवा तरणी तरने रे अने मेले ग्यातं "इंजन की सीटी में म्हारों मन डोले एवं श्रीमती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भानुमती वंसल ने म्हारो लहरियों पचरंगी गोटेदार'' नृत्य का प्रशिक्षण दिया। संस्था के संगीतज्ञ श्री यासीन खाँ ने बालकों को ढोलक पर कहरवा एवं दादा तालों के विभिन्न प्रकारों से अवगत कराया। अनुसंधान अधिकारी एवं राष्ट्रीय स्तर के वाद्य विशेषज्ञ श्री प्रवीण मेहता ने भी अपना संपूर्ण समय देकर शिविरार्थियों को हारमोनियम एवं सिन्थेसाइज़र पर स्वर ज्ञान कराते हुए राजस्थान की प्रसिद्ध मांड, पनिहारिन म्हारों जलालो विलालों आदि लोकगीतों का प्रशिक्षण दिया।

नृत्य प्रशिक्षण में श्रीमती यशोदा माली एवं श्रीमती शोभा मीणा ने सहयोग दिया। संगीत कलाकार श्रीमती लीला देवी (हारमोनियम) श्रीमती भारतीदेवी (गायन) श्री जगदीश पालीवाल, श्री रामपाल (ढोलक) एवं श्री रोशनलाल भाट (क्लारनेट) थे। रंगमंच एवं प्रकाश व्यवस्था का दायित्व श्री मुश्ताक खान, श्री लक्ष्मी नारायण एवं श्री किशन सिंह ने कुशलता से पूर्ण किया। कार्यक्रम का संचालन श्री दिनेश वंसल ने किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रंगायन, अप्रैल - जून, १९९८

पंजीयन संख्या १०४३६/६७

संपादक : पीयूष दईया

भारतीय लोक-कला मण्डल, उदयपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi